राष्ट्रपिता

•

पंडित जवाहरलाल नेहरू

•

१९४९
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

प्रकाशक :
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

प्रथम बार : ३० जनवरी, १९४९
मूल्य
अजिल्द २॥) : सजिल्द ३॥)

मुद्रक :
दिल्ली प्रेस,
नई दिल्ली

सूची

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में हम पंडित जवाहरलाल नेहरू की सम्मति से उनके उन लेखों और भाषणों को प्रकाशित कर रहे हैं, जिनमें उन्होंने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रति केवल श्रद्धांजलि ही अर्पित नहीं की है; अपितु उनके व्यक्तित्व और उनकी विविध प्रवृत्तियों पर अपनी भावनाएं एवं मानसिक प्रतिक्रियाएं भी व्यक्त की हैं। पुस्तक में अनेक सजीव चित्र हैं। कहीं भावुक कवि की कल्पना मिलती है, तो कहीं एक तटस्थ अन्वेषक की सूक्ष्म दृष्टि और उसके गहरे अध्ययन का पता चलता है। निस्संदेह इस पुस्तक को हम बापू के मानवीय और राजनैतिक जीवन का संक्षिप्त इतिहास कह सकते हैं।

हमें हर्ष है कि नेहरूजी के कईएक भाषण हमें मूल रूप में प्राप्त हो गए हैं। उन्हें यथासंभव ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है। यथा, बापू के अस्थि-विसर्जन के समय त्रिवेणी पर और पहली बरसी के अवसर पर राजघाट में दिए गए भाषण। सर्वोदय प्रदर्शिनी (राजघाट) का उदघाटन-भाषण भी उन्हींकी बोली में दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक चाव के साथ पढ़ी जायगी। चूंकि इसका प्रकाशन बापू की पहली बरसी के अवसर पर हुआ है, इसलिए इससे होने वाले लाभ का आंशिक भाग 'गांधी स्मारक निधि' में देने का निश्चय किया है।

इस पुस्तक की सामग्री के संकलन में जॉन दे कंपनी, न्यूयार्क के प्रकाशन, ऑल इंडिया रेडियो तथा 'हिन्दुस्तान' से अमूल्य सहायता मिली है। सम्पादन एवं अनुवाद का कार्य श्रीबांकेबिहारी भटनागर एम.ए. (सहकारी सम्पादक—'हिन्दुस्तान') ने किया है। पुस्तक के चित्र श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री कनु गांधी की कृपा से प्राप्त हुए हैं। पुस्तक की तैयारी में इन तथा जिन अन्य बंधुओं से हमें मदद मिली है उन सबका हम आभार स्वीकार करते हैं।

संदेश

"हिन्दुस्तान अपनी आज़ादी के लिए पीढ़ियों से जो लड़ाई लड़ता आया है, उसमें उसे दुःख भी उठाने पड़े और कामयाबी भी मिली; कितनी ही बार उसकी जीत हुई और कितनी ही बार उसे हार का सामना करना पड़ा। लेकिन राष्ट्रपिता बापू ने हमें जिस खूबी के साथ रास्ता दिखाया उससे वह दुःख दुःख नहीं रह गया, उसने जनता को पवित्र और शुद्ध किया और हर हार दुगुने उत्साह के साथ काम करने की प्ररेणा और जीत की भूमिका में बदल गई।

"हाल के वर्ष हमारे लिए परीक्षा और कठिनाई के वर्ष थे, लेकिन उनमें भी गांधीजी के संदेश ने कौम का उत्साह बढ़ाया। इन वर्षों में हमें कुछ हद तक कामयाबी मिली और जिस आज़ादी के लिए हम लड़ते और दुःख उठाते आये थे, वह हासिल हो गई। लेकिन इस कामयाबी के लिए हमें सचमुच बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी क्योंकि मातृभूमि के दो टुकड़े हो गए, और उस अभागी घटना के बाद जनता पर पागलपन छा गया और कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि वे सब बड़े आदर्श, जिनके गांधीजी हामी थे, अंधेरे में छिप गये हों। उस अंधेरे में गांधीजी के उत्साह दिलानेवाले संदेश की रोशनी दिखाई दी और शोक से भरे हुए अनगिनत लोगों को उससे ताकत और तसल्ली मिली।

"और उसके बाद मुल्क को सबसे बड़ा धक्का लगा—उस महापुरुष की हत्या हुई जो कि प्रेम का अवतार था और था कौम की सरल व न जीती जा सकनेवाली आत्मा की मूर्त्ति। इसलिए वह कामयाबी, जिसके लिए जनता ने इतनी तपस्या की थी और जो इतनी लड़ाई के बाद मिली थी, हमारे लिए आज़ादी की चमक नहीं बल्कि दुःख और निराशा लेकर आई।

"गांधीजी की पवित्र याद में और उनके उपदेशों का आदर करने के लिए कौम ने इन जबरदस्त ख़तरों का सामना किया। इनमें सबसे बड़ा

ख़तरा उस भावना का ख़तरा था जो कि लोगों के दिमाग पर छा गई थी और जिसकी वजह से कुछ समय के लिए वे महान् उपदेश भुला दिये गये थे, जो उन गुरुदेव ने हमें दिये थे।

"जिसने, कौम को आजादी दिलाई और उसे जीवन दिया, उसकी मृत्यु को पूरा एक साल होगया। उसकी इस पहली बरसी पर हम उस महात्मा और उसके महान् संदेश को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और इस बात का पक्का इरादा करते हैं कि जीवन देनेवाले उस संदेश की रोशनी में हम अपने देश की जनता की और मानवता की सेवा जारी रखेंगे।

"गांधीजी के नेतृत्व में मुल्क के लिए अहिंसक तरीकों पर राजनैतिक आजादी हासिल कर चुकने के बाद अब हमें सामाजिक और आर्थिक आजादी के लिए मेहनत करनी है, ताकि हिन्दुस्तान के सभी आदमी बिना किसी जाति या मजहब के भेदभाव के, आगे बढ़ सकें और उन्हें उन्नति का बराबर मौका मिले। इस काम के लिए एक बिलकुल नये रास्ते की ज़रूरत है और यह भी ज़रूरी है कि हम रचनात्मक भावना के साथ मातृभूमि की सेवा में अपने को समर्पित कर दें।

"हिन्दुस्तान की जनता आज़ादी पा चुकी है, लेकिन इसके मीठे फलों का स्वाद चखने के लिए उसे अपनी जिम्मेदारियां पूरी करनी होंगी। हमें यह याद रखना चाहिए कि जनता की सेवा करना और अपनी जिम्मे-दारियों को पूरा करना ही हमारा सबसे बड़ा सौभाग्य है और आइन्दा भी होना चाहिए। जो लोग इन जिम्मेदारियों को भूलकर नौकरी पाने या ताकत हासिल करने की धुन में रहते हैं वे मुल्क का बुरा कर रहे हैं।

"गांधीजी ने हमें ख़ास तौर से यह शिक्षा दी थी कि हमें अपनी सेवा विशेषरूप से देश की जनता में एकता और सद्भावना बढ़ाने, छोटे-बड़े का ही भेदभाव नहीं बल्कि जन्म, जाति या धर्म के नाम पर किये जानेवाले सभी तरह के भेदभावों को मिटाने और शांतिपूर्ण तरीकों से वर्गहीन जन-तंत्रीय समाज स्थापित करने में लगानी चाहिए। इन सबसे भी बड़ी उनकी शिक्षा यह थी कि चाहे कितनी भी कीमत देनी पड़े और जैसी भी स्थिति

हो, हमें उन नैतिक सिद्धांतों का पालन करना चाहिए जिनसे जीवन अर्थमय बनता है।

"इस संदेश की रोशनी में हम पूरी सचाई के साथ आज की सारी—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय—कठिनाइयों और संकटों का सामना करने की चेष्टा करेंगे जिससे कि देश की आजादी बढ़े, उसकी नैतिक मर्य्यादा ऊंची उठे और वे महान् उद्देश्य पूरे हों जिनके गांधीजी हामी थे।"

क्या लिखूं !

[इस पुस्तक के लिए हिंदी में कुछ और लिख देने के लिए जब हमने श्री नेहरूजी से अनुरोध किया तो उन्होंने अपनी झिझक दिखाते हुए लगभग वही भावनाएं व्यक्त कीं, जो उन्होंने लगभग १० वर्ष पहले श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'गांधी-अभिनंदन-ग्रंथ' के हिन्दी संस्करण के लिए विशेष रूप से लिखित इन पंक्तियों में की हैं। नेहरूजी की और दुनिया की निगाह में बापू का क्या स्थान था और है, इसका अनुमान पाठकों को इन चंद पंक्तियों से भली भांति हो जायगा। —संपादक]

कुछ महीने हुए श्री राधाकृष्णन् ने मुझे लिखा था कि वह गांधी-जयन्ती के लिये एक किताब तैयार कर रहे हैं, जिसमें दुनिया के बहुत सारे बड़े आदमी गांधीजी के बारे में लिखेंगे। मुझे भी उन्होंने इस किताब के लिये एक लेख लिखने को कहा था। मैं कुछ राजी हुआ; लेकिन फिर भी एक झिझक-सी थी। गांधीजी के लिए कुछ लिखना मेरे लिए आसान बात नहीं थी। फिर मैं ऐसी परेशानियों में फंसा कि लिखना और भी कठिन हो गया। और आखिर में मैंने कोई मजमून नहीं लिखा।

मैं यों अक्सर कुछ-न-कुछ लिखा करता हूं और लिखने में दिलचस्पी भी है। फिर यह झिझक कैसी? कभी-कभी गांधीजी पर लिखा है। लेकिन जितना मैंने सोचा यह मजमून मेरे काबू के बाहर निकला। हां, यह कुछ आसान था कि मैं कुछ ऊपरी बातें जो दुनिया जानती है उनको दोहराऊं। लेकिन उससे फायदा क्या? अक्सर उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आईं, कुछ बातों में उनसे मतभेद भी हुआ। एक जमाने से उनका साथ रहा। उनकी निगरानी में काम किया, उनका छापा मेरे ऊपर पड़ा, मेरे खयाल बदले और रहने का ढंग भी बदला। जिन्दगी ने एक करवट ली, दिल बढ़ा, कुछ-कुछ ऊंचा हुआ,

नौ

आंखों में रोशनी आई, नए रास्ते देखे और उन रास्तों पर लाखों और करोड़ों के साथ हमकदम हो कर चला। क्या मैं ऐसे शख्स की निस्बत लिखूं जो कि हिन्दुस्तान का और मेरा जुज़ हो गया और जिसने कि जमाने को अपना बनाया?

हम जो इस जमाने में बढ़े और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अन्दाज़ा करें? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े हैं।

जहां-जहां मैं हिन्दुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरोप का कोई देश हो या चीन या कोई और मुल्क, पहला सवाल मुझसे यही हुआ—"गांधीजी कैसे हैं? अब क्या करते हैं?" हर जगह गांधीजी का नाम पहुंचा था, गांधीजी की शोहरत पहुंची थी। ग़ैरों के लिए गांधी हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान गांधी। हमारे देश की इज्जत बढ़ी, हैसियत बढ़ी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊंचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, फिर से अंधेरे में रोशनी आई। जो सवाल लाखों के दिल में थे और उनको परेशान करते थे, उनके जवाबों की कुछ झलक नजर आई। आज उस जवाब पर अमल न हो तो कल होगा, परसों होगा। उस जवाब में और जवाब भी मिलेंगे, और भी अंधेरे में रोशनी पड़ेगी; लेकिन वह बुनियाद पक्की है और उसी पर इमारत खड़ी होगी।

जवाहरलाल नेहरू

१

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में टैगोर और गांधी निस्संदेह भारत के दो प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनकी तुलना करना और साथ ही उनके भेदों को देखना शिक्षाप्रद होगा। स्वभाव और आकार-प्रकार में जितने ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न थे उतने शायद ही कोई दो व्यक्ति होंगे। टैगोर एक राजसी कलाकार थे, बाद में उनके विचार जनतंत्रीय बने और श्रमहारा श्रेणी के लोगों के साथ उनकी सहानुभूति हो गई। वह मुख्यतः भारत की उस सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिनिधि थे जो जीवन को उसके पूर्ण वैभव के साथ स्वीकार करती है और उसे कलापूर्ण ढंग से बिताने में विश्वास करती है। गांधीजी प्रधानतः जनता के आदमी थे, वह एक प्रकार से भारतीय किसान की प्रतिमूर्त्ति थे और भारत की एक दूसरी पुरातन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे—त्याग और संन्यास की परम्परा। फिर भी टैगोर प्रधानतः एक विचारक थे और गांधीजी एकाग्र व सतत क्रियाशीलता के हामी। अपने-अपने ढंग पर दोनों के विचार अन्तर्राष्ट्रीय थे, फिर भी दोनों कट्टर भारतीय थे। वे भारत के दो अलग-अलग पर सामंजस्यपूर्ण पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे और एक-दूसरे के पूरक थे।

•

पहली बड़ी लड़ाई से पहले (अर्थात् सन् १९१४ से पूर्व) जबकि भारत में कोई राजनैतिक चेतना नहीं थी, एक सुदूर देश में भारत की

मर्यादा के लिए एक वीरतापूर्ण और अद्वितीय लड़ाई छिड़ी। वह देश दक्षिण अफ़्रीका था, जहां भारत के बहुत-से मजदूर और कुछ व्यापारी भी जा बसे थे। वहां उनका बड़ा अनादर होता था और उनके साथ तरह-तरह का बुरा बर्ताव किया जाता था, क्योंकि उन दिनों वहां जातीय अहंकार का बोलबाला था। तभी ऐसा हुआ कि भारत का एक नौजवान बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ़्रीका ले जाया गया। वहां उसने अपने देश के भाईबंदों की दुर्दशा देखी और इससे वह बड़ा अपमानित और दुःखी हुआ। उसने उनकी सहायता में अपना तन, मन, धन—सब कुछ लगा देने का संकल्प कर लिया। कई वर्ष तक वह चुपचाप काम करता रहा, उसने अपना वकालत का पेशा छोड़ दिया, उसके पास जो-कुछ भी था सब त्याग दिया और जिस ध्येय को लेकर वह आगे बढ़ा था उसीमें पूरी तरह से लीन रहा।

यह आदमी मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा उसे जानता और प्यार करता है, किंतु उन दिनों उसे दक्षिण अफ़्रीका से बाहर बहुत ही कम लोग जानते थे। एकाएक उसका नाम बिजली की तरह कौंध कर भारत तक पहुंच गया और लोग उसकी तथा उसके वीरतापूर्ण संघर्ष की आश्चर्य, प्रशंसा और गर्व के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने वहां के भारतीयों को और भी अधिक अपमानित करने की चेष्टा की, पर भारतीयों ने गांधी के नेतृत्व में सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह एक ताज्जुब की बात थी कि ग़रीब, पददलित और अज्ञानी मजदूरों ने और उनके साथ कुछ छोटे-मोटे व्यापारियों ने स्वदेश से इतनी दूर रहते हुए भी ऐसा साहस दिखलाया।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक था वह तरीका, जिसे इन लोगों ने अपनाया था और जो एक राजनैतिक हथियार के रूप में विश्व के इतिहास में बिलकुल नया प्रयोग था। तब से हम उसका नाम अक्सर सुनते आए हैं। वह था गांधी का सत्याग्रह—जिसका अर्थ है 'सत्य पर डटे रहना'। कभी-कभी वह 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से भी पुकारा जाता है, किंतु

यह उसका शुद्ध अनुवाद नहीं है, क्योंकि उसमें काफी क्रियाशीलता होती है। यद्यपि अहिंसा उसका एक मुख्य अंग है तथापि वह केवल विरोध का अभाव मात्र नहीं है। गांधी ने अपने इस अहिंसात्मक युद्ध से भारत और दक्षिण अफ्रीका को चकित कर दिया और भारतवासियों को यह जानकर बड़ा हर्ष और गौरव अनुभव हुआ कि दक्षिण अफ्रीका में हमारे हजारों भाई-बहन हंसते-हंसते जेल जा रहे हैं। अपने देश की गुलामी और नपुंसकता पर हम मन-ही-मन बड़े लज्जित थे और अब अपने ही भाई-बहनों द्वारा दी गई इस साहसपूर्ण चुनौती का नमूना देख कर हमारा आत्म-सम्मान ऊंचा उठ गया। एकाएक इस प्रश्न पर सारे भारतवर्ष में राजनैतिक चेतना जाग उठी और रुपया धड़ाधड़ दक्षिण अफ्रीका पहुंचने लगा। यह संघर्ष तब तक बंद नहीं हुआ जब तक कि गांधीजी और दक्षिण अफ्रीका की सरकार में समझौता नहीं हो लिया।

पहली मुलाकात

गांधीजी से मेरी पहली मुलाकात लखनऊ कांग्रेस के समय सन् १९१६ में बड़े दिनों में हुई। जिस बहादुरी के साथ वह दक्षिण अफ्रीका में लड़े थे उसके लिए हम सब उनकी प्रशंसा करते थे, किंतु हममें से बहुत-से नौजवानों को वह अपने से बहुत दूर, बिलकुल भिन्न और अराजनैतिक मालूम पड़ते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपने को दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के प्रश्न तक ही सीमित रखा था। इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने चम्पारन में किसानों की ओर से जो साहसिक कार्य किये और इन कार्यों में उन्हें जो विजय मिली उससे हममें उत्साह की एक लहर दौड़ गई। हमने देखा कि वह अपने तरीकों का भारत में भी प्रयोग करने को तैयार हैं और उन तरीकों में हमें सफलता की आशा दिखाई दी।

महासमर के बाद भारतवासी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें, अब हमें क्या मिलता है। उनके मन में क्रोध था, वे लड़ने को उतारू

दिखाई देते थे, उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी, फिर भी वे प्रतीक्षा में थे। कुछ ही महीनों में नई ब्रिटिश नीति का पहला फल, जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इंतजार किया जा रहा था, एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया, जिसमें क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के लिए खास कानून पास करने की व्यवस्था की गई थी। अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होने वाला था। इन कानूनों का प्रस्ताव एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे 'रौलट बिल' कहलाते थे। कुछ ही दिनों में ये बिल देश के कोने-कोने में 'काले बिल' कह कर पुकारे जाने लगे और सब जगह सब वर्गों के भारतवासियों ने, जिनमें नरम से नरम विचार वाले भी शामिल थे, उनकी निन्दा की। इन बिलों में सरकार को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे और पुलिस को लोगों को गिरफ्तार करने, अदालत में पेश किये बिना ही जेल में रखने या जिस किसीको वह पसन्द नहीं करती थी या शक की नजर से देखती थी, उस पर गुप्त अदालती कार्रवाई करने का हक दिया गया था। उन दिनों इन बिलों का वर्णन आम तौर पर इन शब्दों में किया जाता था : 'न वकील, न अपील, न दलील'। जैसे-जैसे इन बिलों का विरोध ज़ोर पकड़ता गया वैसे-वैसे एक नई वस्तु प्रकट होती गई—देश के राजनैतिक आकाश में बादल का एक छोटा टुकड़ा दिखाई दिया जो बड़ी तेज़ी से बढ़ा और फैलते-फैलते सारे आकाश में छा गया।

यह नया तत्त्व था मोहनदास करमचन्द गांधी। लड़ाई के दिनों में ही वह दक्षिण अफ़्रीका से लौट आया था और साबरमती के आश्रम में अपने साथियों को लेकर जा बसा था। अब तक वह राजनीति से अलग रहा था। उसने सरकार को युद्ध के लिए रंगरूटों की भरती तक करने में सहायता दी थी। दक्षिण अफ़्रीका के अपने सत्याग्रह संघर्ष के बाद से वह भारत में काफी ख्याति पा चुका था। सन् १९१७ में उसने बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपियन निलहे गोरों के दुःखी और पददलित किसानों के पक्ष का बड़ी सफलता के साथ समर्थन किया था। बाद में वह गुजरात में

खेड़ा के किसानों का पक्ष लेकर खड़ा हुआ था। सन् १९१९ के आरम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गया और अभी वह स्वस्थ भी न हो पाया था कि रौलट बिल के विरोध से देश का कोना-कोना गूंज उठा। इस व्यापक क्रंदन में उसने भी अपनी आवाज मिला दी।

किंतु उसकी आवाज़ औरों की आवाज से कुछ जुदा थी। वह एक शांत और धीमी आवाज थी, लेकिन जनसमुदाय की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, किंतु उसमें कहीं-न-कहीं फौलादी स्वर छिपा दिखाई देता था। उस आवाज में शील था और वह हृदय को छू जाती थी, फिर भी उसमें कोई ऐसा तत्व था जो कठोर और भय उत्पन्न करने वाला था। उस आवाज़ का एक-एक शब्द अर्थपूर्ण था और उसमें एक तीव्र आत्मीयता का अनुभव होता था। शांति और मित्रता की उस भाषा में शक्ति व कर्म की कांपती हुई छाया थी और था अन्याय के सामने सिर न झुकाने का संकल्प। अब हम उस आवाज से परिचित हो चुके हैं, पिछले १४ वर्षों में हम उसे काफी सुन चुके हैं। किंतु सन् १९१९ की फरवरी और मार्च के महीनों में वह हमारे लिए एक बिलकुल नई आवाज थी। उस समय हमारी समझ में नहीं आता था कि हम उसका क्या करें, फिर भी हम उसे सुन-सुन कर रोमांचित हो उठते थे। वह हमारी उस राजनीति से बिलकुल भिन्न थी जिसमें शोरगुल बहुत होता था और निन्दा करने के सिवा और कुछ नहीं किया जाता था। वह उन लम्बे-लम्बे भाषणों से भी बिलकुल अलग थी, जिनके अंत में विरोध के वे निरर्थक और निष्फल प्रस्ताव पास होते थे, जिन्हें कोई अधिक महत्त्व नहीं देता था। गांधी की राजनीति कर्म की राजनीति थी, बात की नहीं।

सत्याग्रह-आंदोलन

महात्मा गांधी ने ऐसे लोगों की एक सत्याग्रह-सभा बनाई जो कुछ चुने हुए कानूनों को भंग कर अपने आपको गिरफ्तार कराने को

तैयार थे। उस समय यह एक बिलकुल नया विचार था और हम में से बहुत से लोग उससे उत्तेजित हुए, यद्यपि बहुत-से पीछे भी हटे। आज वही सत्याग्रह एक रोजमर्रा की घटना बन गया है और हममें से अधिकांश के लिए तो वह जीवन का एक नियमित और स्थायी अंग हो गया है। जैसा कि गांधीजी किया करते थे पहले उन्होंने वाइसराय के पास एक नम्र अपील और चेतावनी भेजी, लेकिन जब उन्होंने देखा कि भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलों को कानून का रूप देने पर तुली है तो उन्होंने कानून बनने के बाद पहले इतवार को ही सारे देश में शोक मनाने, हड़ताल करने, हर तरह का काम बंद रखने और सभाएं करने की अपील की। यह सत्याग्रह आंदोलन का श्रीगणेश करने के लिए किया गया था और इस अपील के अनुसार रविवार, ६ अप्रैल, १९१९ को सारे देश में––गांव-गांव और शहर-शहर में––सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला अखिल भारतीय प्रदर्शन था। उसका लोगों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा और उसमें सभी प्रकार के लोगों और जातियों ने भाग लिया। हममें से जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए कार्य किया था, वे उसकी सफलता पर स्तम्भित रह गये। हम शहरों के बहुत ही कम लोगों तक पहुंच पाये थे, किंतु देश में एक नई फिजा छाई हुई थी और किसी-न-किसी तरह हमारा सन्देश लम्बे-चौड़े देश के दूर-दूर के गांवों तक पहुंच गया था। यह पहला अवसर था जब गांव और शहर वालों ने साथ-साथ एक जन-व्यापक राजनैतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

दिल्ली में तारीख की भूल से हड़ताल एक सप्ताह पहले अर्थात् ३१ मार्च, १९१९ ही को मना ली गई थी। उन दिनों दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में गजब का भाईचारा और प्यार था और वह दृश्य कितना रोमांचकारी था जबकि आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में जाकर एक बहुत बड़े मजमे के सामने भाषण दिया था। उस ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने गलियों में जमा हुई बड़ी-बड़ी भीड़ों को तितर-बितर करने की चेष्टा की और उन पर

गोलियां तक चलाईं, जिससे कई लोग मारे गये। स्वामी श्रद्धानन्द ने, जिनका लम्बा शरीर संन्यासियों के वस्त्र में बड़ा भव्य दिखाई देता था, चांदनी चौक में गुरखों की संगीनों का निश्चल दृष्टि और खुली हुई छाती के साथ सामना किया। ये संगीनें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकीं और इस घटना से सारे भारतवर्ष में रोमांच हो गया; किंतु दुर्भाग्य की बात है कि आठ साल भी नहीं बीतने पाये थे कि एक मतवाले मुसलमान ने धोखे से रोग-शैया पर ही उनकी हत्या कर डाली।

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाने के बाद घटनाएं बड़ी तेजी से आगे बढ़ीं। १० अप्रैल को अमृतसर में गड़बड़ी हुई जब कि अपने नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल की गिरफ्तारी पर शोक मनाती हुई निश्शस्त्र और नंगे सिर भीड़ फौज की गोलियों का शिकार बनी और उसमें से कई लोग मारे गये। इस पर भीड़ ने बदले के उन्माद में दफ्तरों में बैठे हुए पांच या छः निर्दोष अंग्रेज़ों को मार डाला और बैंकों की इमारतें फूंक डालीं। इसके बाद मानो पंजाब पर एक परदा पड़ गया। वहां कड़ा सेन्सर बैठा दिया गया और पंजाब शेष भारत से बिलकुल कट-सा गया। वहां से शायद ही कोई खबर आ पाती थी और लोगों का वहां आना-जाना मुश्किल था। वहां फौजी कानून भी जारी कर दिया गया था जिसका कष्ट जनता को कई महीनों तक उठाना पड़ा। धीरे-धीरे हफ्तों और महीनों की यातनापूर्ण प्रतीक्षा के पश्चात् परदा उठा और वहांके भीषण सत्य का पता चला।

अमृतसर-हत्याकांड

१३ अप्रैल को अमृतसर के जलियांवाला बाग में जो कत्लेआम हुआ था उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस फन्दे में फंसकर, जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हजारों की जानें गईं और हजारों घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही नरसंहार का पर्यायवाची बन गया है। वहांकी घटना तो भयंकर थी ही, उससे भी अधिक लज्जाजनक घटनाएं

सारे पंजाब में घटीं ।

यह एक अजीब संयोग की बात थी कि उसी साल, दिसम्बर के महीने में, कांग्रेस का अधिवेशन भी अमृतसर में हुआ। इस अधिवेशन में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया गया, क्योंकि बहुत-सी बातों की जांच की गई थी और उसके परिणाम का इंतजार था। फिर भी एक बात साफ दिखाई देती थी—वह यह कि कांग्रेस अब पहले वाली कांग्रेस नहीं रह गई थी। उसमें अब सामूहिकता या जन-व्यापकता आगई थी और एक नई—कुछ पुराने कांग्रेसियों की समझ में एक चिंताजनक—जीवनी-शक्ति आ-गई थी। उस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक उपस्थित थे, जो सदा की भांति समझौते के लिए तैयार नहीं थे। वह आखिरी अधिवेशन था, जिसमें उन्होंने भाग लिया था, क्योंकि अगले अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उसमें गांधीजी भी थे, जो जनता के प्रिय बन गये थे और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर अपनी दीर्घकालीन प्रभुता का आरम्भ ही कर रहे थे। उसी कांग्रेस में सीधे जेल से ऐसे बहुत-से नेता आये थे जिनका फौजी कानून के दिनों में बड़े भयंकर षड़यंत्रों से सम्बन्ध रहा था और जिन्हें लम्बी-लम्बी कैद की सजा हुई थी, किंतु जिन्हें अब क्षमा कर दिया गया था। प्रसिद्ध अली-बंधु भी कई साल तक नजरबन्द रहने के बाद ठीक उसी समय छूट कर आये थे ।

कांग्रेस मैदान में

अगले साल कांग्रेस मैदान में कूद पड़ी और गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया गया। यह निर्णय कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में किया गया और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसकी पुष्टि की गई। संघर्ष की यह प्रणाली बिलकुल शांत या जैसा कि उसे नाम दिया गया था, अहिंसात्मक थी। उसका बुनियादी सिद्धांत यह था कि ब्रिटिश सरकार को उसके शासन-कार्य और भारत के शोषण में सहायता देने से इन्कार कर दिया जाय। श्रीगणेश कई प्रकार के बहिष्कारों से किया जाने वाला था—

विदेशी सरकार द्वारा दी गई उपाधियों का बहिष्कार, सरकारी उत्सवों का बहिष्कार, वकीलों और मवक्किलों द्वारा अदालतों का बहिष्कार, सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के अन्तर्गत बनाई गईं नई कौंसिलों का बहिष्कार ! बाद में सिविल और फौजी नौकरियों और टैक्सों का भी बहिष्कार किया जाने वाला था। रचनात्मक दिशा में हाथ से सूत कातने, खद्दर पहनने और अदालतों के बदले पंचायती न्यायालयों की स्थापना पर जोर दिया जाता था। इनके अलावा कांग्रेस कार्यक्रम के दो और मुख्य स्तम्भ थे— (१) हिन्दू-मुस्लिम एकता और (२) हिन्दुओं में से छुआछूत की भावना का निवारण।

कांग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और वह एक कार्य-क्षम संस्था बन गई। साथ ही उसने अपने सामने जनता की सामूहिक सदस्यता का ध्येय भी रखा।

कांग्रेस का यह कार्यक्रम उसके अब तक के कार्य से बिलकुल भिन्न था। निस्संदेह यह इस संसार में एक निराली योजना थी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्ग के लोगों को तत्काल बड़े-बड़े त्याग करने पड़े। उदाहरण के लिए, वकीलों से वकालत छोड़ने के लिए कहा गया और विद्यार्थियों को सरकारी कालिजों का बहिष्कार करने का आदेश दिया गया। इस महान् प्रयोग के मूल्य को आंकना बड़ा मुश्किल था, क्योंकि और कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिससे उसकी तुलना की जाती। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता झिझके और उन्हें नये कार्यक्रम की सफलता पर सन्देह हुआ। उस समय के सब से बड़े नेता लोकमान्य तिलक कुछ ही पहले मर चुके थे। दूसरे प्रमुख नेताओं में से शुरू-शुरू में केवल एक मोतीलाल नेहरू ने गांधीजी का समर्थन किया, किंतु आम कांग्रेसियों और जनसाधारण की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रह गया। उन पर गांधीजी का बड़ा जबरदस्त प्रभाव पड़ा। ऐसा लगता था जैसे गांधीजी ने उन पर कोई जादू कर दिया है और उन्होंने 'महात्मा गांधी की

जय' के ऊंचे-ऊंचे नारे लगाते हुए उनके अहिंसात्मक असहयोग के नए सिद्धांत को अपनी स्वीकृति प्रदान की। मुसलमानों ने भी कम उत्साह नहीं दिखाया। सच पूछिये तो अली-बंधुओं के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने इस कार्यक्रम को कांग्रेस से पहले ही अपना लिया था। थोड़े ही दिनों बाद जनता के उत्साह और असहयोग आंदोलन की प्रारम्भिक सफलताओं ने अधिकांश पुराने कांग्रेसी नेताओं को भी अपनी ओर खींच लिया।

राष्ट्रीयता के विकास ने जनता का ध्यान राजनैतिक स्वतंत्रता की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया। यह आवश्यकता केवल इसलिए नहीं थी कि निर्भर और दास बने रहना अपमानजनक था, या जैसा कि तिलक ने कहा था, स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार था और उसे प्राप्त करना हमारे लिए अनिवार्य था, बल्कि इसलिए भी कि जनता पर से निर्धनता का बोझ कम करना था। आखिर यह स्वतंत्रता कैसे मिल सकती थी? स्पष्ट ही वह हमारे चुपचाप बैठ कर प्रतीक्षा करते रहने से नहीं मिल सकती थी। यह भी स्पष्ट हो गया था कि केवल विरोध करने और भीख मांगने की नीति, जिसका अनुकरण अब तक कांग्रेस न्यूनाधिक उत्साह से करती आई थी, न केवल असम्मानजनक, बल्कि निरर्थक और निष्फल भी थी। विश्व के इतिहास में ऐसी नीति भी कभी सफल नहीं हुई थी और न उससे प्रभावित होकर किसी शासक या शक्तिशाली वर्ग ने अपने अधिकारों का त्याग ही किया था। इसके विपरीत, इतिहास ने हमें सिखाया था कि गुलाम बनाये गये लोगों और देशों ने हिंसात्मक विद्रोह और विप्लव से ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त की है।

भारतवासियों के लिए सशस्त्र विद्रोह का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। हमारे पास न शस्त्र थे और न हम में से अधिकांश लोगों को शस्त्र चलाना ही आता था। इसके अलावा, हिंसात्मक संघर्ष के लिए हम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चाहे कितनी भी शक्ति संग्रहीत क्यों न करते, उसके संगठित बल की बराबरी किसी तरह भी नहीं कर सकते थे। फौजें तो विद्रोह कर सकती थीं, किंतु निश्शस्त्र जनता विद्रोह कर सशस्त्र शक्ति

का सामना कैसे कर सकती थी ? इसके अलावा व्यक्तिगत रूप से आतंक फैलाना या बम और पिस्तौल से किसी अफसर को मारना मानो अपना दिवालियापन दिखाना था। वह जनता के आचार को भ्रष्ट करने वाली बात थी और यह सोचना बिलकुल उपहासास्पद था कि उससे किसी शक्तिशाली और संगठित सरकार की जड़ हिलाई जा सकती थी, चाहे व्यक्तिगत रूप से उससे लोग कितने ही आतंकित क्यों न हो जाते।

अतः ये सब रास्ते बंद थे और अपमानजनक दासता की उस असह्य अवस्था से कोई छुटकारा नहीं दिखाई देता था। जिन लोगों में थोड़ी बहुत भी भावुकता थी वे बड़े ही दुःखी और असहाय-से हो रहे थे। यही वह अवसर था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम लोगों के सामने रखा। आयरलैण्ड के शिन फ़ैन* की भांति इस कार्यक्रम ने हमें अपने पर भरोसा रखना और अपनी शक्ति को बढ़ाना सिखाया और निस्संदेह वह सरकार पर दबाव डालने का एक बड़ा ही कारगर तरीका था। बहुत हदतक सरकार भारतवासियों के सहयोग पर ही निर्भर थी—चाहे यह सहयोग इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से—और यदि इस सहयोग को हटा कर सरकार का बहिष्कार किया जाता तो बहुत सम्भव था कि सैद्धांतिक रूप से उसकी सारी इमारत ही ढह जाती। यदि असहयोग से इतना न भी हो पाता तो इसमें तो सन्देह ही नहीं था कि उससे सरकार पर बड़ा जबरदस्त दबाव पड़ सकता था और साथ ही जनता की शक्ति भी बढ़ सकती थी। इस आंदोलन की रूपरेखा पूर्ण रूप से शांतिपूर्ण थी, फिर भी वह केवल विरोधहीन नहीं था। वह अन्याय के विरोध का एक

---

*आर्थर ग्रिफ़िथ नामक आयरिश युवक द्वारा प्रवर्तित एक नवीन नीति, जिसके मानने वालों का कहना था कि सहायता के लिए आयरलैण्ड को इंग्लैण्ड का मुंह नहीं ताकना चाहिए, बल्कि अपने राष्ट्र को ही शक्तिशाली बनाना चाहिए।

—सम्पादक

निश्चित किंतु अहिंसात्मक रूप था। वस्तुतः वह एक शांतिपूर्ण विद्रोह था, युद्ध का सभ्य-से-सभ्य तरीका था, फिर भी शासक-संस्था के स्थायित्व के लिए खतरनाक था। जन-साधारण को क्रियाशील बनाने का वह एक बड़ा ही सफल साधन था और भारतीय जनता की विशेष प्रतिभा के बिलकुल अनुकूल प्रतीत होता था। उससे हमारा व्यवहार निर्मल बन गया और शत्रु बगलें झांकने लगा। जिस भय ने हमें दबोच रखा था वह जाता रहा और हम निडर होकर लोगों की आंखों से आंखें मिलाने लगे, जैसा कि हमने पहले कभी नहीं किया था और अपने मन की बातें साफ-साफ और पूरी तरह से कहने लगे। ऐसा मालूम होता था जैसे हमारे दिमाग़ पर से एक बड़ा भारी बोझ उतर गया है। बोलने और कार्य कर सकने की इस नई स्वतंत्रता ने हममें विश्वास और बल भर दिया। इसके अलावा बहुत हद तक इस शांतिपूर्ण युक्ति ने उन भयंकर और कड़वी जातीय व राष्ट्रीय घृणाओं को बढ़ने से रोका, जो तब तक के ऐसे संघर्षों में सदा दिखाई देती रही थीं और इस प्रकार अंतिम समझौते का मार्ग सरल बन गया।

इसलिए आश्चर्य नहीं कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने महात्मा गांधी के दिव्य व्यक्तित्व से आलोकित होकर देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसे आशा से भर दिया। यह आशा बढ़ी और उसके साथ-ही-साथ हमारा पुराना नैतिक पतन समाप्त हो गया। नई कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपनी ओर खींचा और दिन-पर-दिन उनकी शक्ति और मर्यादा बढ़ती गई।

एक मुस्लिम सभा

१९२० में राजनैतिक और खिलाफत आंदोलन साथ-साथ चलते रहे। दोनों की एक दिशा थी और अंत में जब कांग्रेस ने गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग को अपनाया तो दोनों एक में मिल गये। असहयोग के कार्यक्रम को पहले ख़िलाफ़त कमेटी ने ही अपनाया और उसके श्रीगणेश के लिए पहली अगस्त निश्चित की गई।

उसी वर्ष कुछ पहले इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए इलाहाबाद में एक मुस्लिम सभा हुई थी (मैं समझता हूं कि वह मुस्लिम लीग की कौंसिल थी)। बैठक सैयद रजाअली के घर पर हुई। मौलाना मुहम्मदअली उस समय भी यूरोप में थे, किन्तु मौलाना शौकतअली बैठक में मौजूद थे। मुझे उस बैठक की याद है, क्योंकि उससे मुझे पूरी-पूरी निराशा हुई थी। मौलाना शौकतअली में तो उत्साह था, किन्तु करीब-करीब और सब लोग बड़े ही दुःखी और परेशान थे। उनमें असहमत होने का तो साहस ही नहीं था फिर भी यह साफ मालूम होता था कि वे कोई काम जल्दबाजी में नहीं करना चाहते। मैंने सोचा कि क्या ये ही वे लोग हैं जो क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे? गांधीजी ने उनके बीच भाषण दिया और उनकी बातें सुनने के बाद सभा में भाग लेने वाले पहले से भी अधिक भयभीत दिखाई देने लगे। अपने आदेशात्मक स्वर में गांधीजी खूब अच्छी तरह बोले। वह विनीत किन्तु हीरे की तरह साफ़ और कठोर थे। उनकी बातें मीठी किन्तु दृढ़ और हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकली हुई थीं। उनकी आंखें नम्र और गहरी थीं, फिर भी उनमें गजब की शक्ति और संकल्प की चमक थी।

उन्होंने चेतावनी दी कि यह लड़ाई एक अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु से लड़ी जाने वाली बहुत बड़ी लड़ाई होगी, अगर आप इसे लड़ना चाहते हैं तो आपको सब कुछ खोने और साथ ही कड़ी-से-कड़ी अहिंसा और अनुशासन का पालन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्होंने यह भी बताया कि जिस तरह युद्ध की घोषणा होने पर फौजी कानून जारी किया जाता है उसी तरह यदि हम जीतना चाहते हैं तो हमें भी अपनी अहिंसात्मक लड़ाई में तानाशाही और फौजी कानून का प्रयोग करना होगा। आपको इस बात का पूरा अधिकार है कि आप मुझे ठोकर मार कर निकाल दें, मेरा सिर मांगलें और जब चाहें या जैसे चाहें मुझे दंड दें। किन्तु जब तक आप मुझे अपना नेता बनाकर रखना चाहते हैं, आपको मेरी शर्तें माननी होंगी और तानाशाही तथा फौजी कानून

के अनुशासन को स्वीकार करना होगा। किन्तु वह तानाशाही सदा आपकी सद्भावना, आपकी स्वीकृति और आपके सहयोग पर निर्भर होगी। जैसे ही आप यह समझें कि आपको मेरी जरूरत नहीं रह गई, आप मुझे निकाल फेंकें, मुझे पैरों तले कुचल दें, मैं रत्ती भर भी शिकायत नहीं करूंगा।

उन्होंने कुछ ऐसी ही बातें कहीं और बीच-बीच में जो सैनिक उपमाएं दीं व जिस दृढ़तापूर्ण सच्चाई से अपने विचार प्रकट किये उससे अधिकांश श्रोताओं के रोंगटे खड़े हो गये। किन्तु शौकतअली वहां ढिलमिल लोगों को सम्हालने के लिए मौजूद थे और जब राय देने का समय आया तो अधिकांश लोगों ने चुपचाप और शर्म से मुंह छिपाये गांधीजी के युद्ध-प्रस्ताव का समर्थन किया।

सभा से घर लौटते समय मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या एक बड़े संघर्ष को आरम्भ करने का यही ढंग है? मैंने उम्मीद की थी कि वहां बड़ा उत्साह दिखाई देगा, बड़े-बड़े जोशीले भाषण होंगे और लोगों की आंखें चमक उठेंगी, किन्तु इनके बजाय वहां डरपोक और अधेड़ उम्र के लोगों की एक शिथिल-सी भीड़ दिखाई दी। फिर भी जनमत का इतना दबाव था कि इन लोगों को संघर्ष का समर्थन करना पड़ा।

भय का अन्त

हमारी जनता उत्तेजना, पीड़ा और संशय से भरे हुए कुछ इने-गिने वर्षों से नहीं, बल्कि पीढ़ियों से अपना खून और पसीना बहाती आई थी और यह क्रिया भारत की रग-रग में घुसती हुई इतनी गहरी पहुंच चुकी थी कि उससे हमारे सामाजिक जीवन का एक-एक पहलू विषाक्त हो गया था—ठीक उसी भयंकर रोग की तरह जो फेफड़ों के तन्तुओं को खा जाता है और मनुष्य का धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से अन्त कर देता है। कभी-कभी तो हम सोचा करते थे कि ज्यादा अच्छा यह होता कि हैजे या प्लेग की तरह हमारी मृत्यु का कोई अधिक तीव्र और स्पष्ट

साधन मिल जाता। लेकिन वह एक क्षणिक भावना थी, क्योंकि इस प्रकार की साहसिकता से कुछ हाथ नहीं आता। गहरी बीमारियों का नीम हकीमों से इलाज कराने से कोई लाभ नहीं होता।

और तब गांधी आये। वह ताजी हवा के एक जबरदस्त झोंके की तरह थे, जिसके स्पर्श का अनुभव होते ही हमने अपनी छातियां फैलाकर गहरी सांसें ली। वह रोशनी की एक किरण जैसे थे जिसने अन्धकार को वेध दिया और हमारी आंखों पर से पर्दा हटा दिया। वह एक तूफान की तरह थे, जिसके झोंके में सब चीजें अस्तव्यस्त होगईं—सबसे अधिक लोगों की मानसिक क्रिया। वह किसी चोटी से नहीं उतरे, बल्कि भारत के करोड़ों जन में से ही प्रकट होते दिखाई दिये—उन्हींकी भाषा बोलते हुए, सदा उन्हींकी ओर संकेत करते हुए और उनकी हृदय को दहला देने वाली स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए। उन्होंने हमसे कहा कि जो लोग किसानों और मजदूरों का शोषण करके जीवित रहते हैं वे उनपर से अपना बोझ हटा लें और उस कुरीति को मिटा दें, जो उनकी निर्धनता और विपदा को जन्म देती है।

इसके बाद राजनैतिक स्वतंत्रता ने एक नया रूप ग्रहण किया और उसमें नये-नये विषयों का प्रवेश होने लगा। जो कुछ भी गांधीजी ने कहा उसमें से अधिकांश को हमने या तो केवल अंशतः स्वीकार किया, या कभी-कभी बिलकुल स्वीकार नहीं किया। किन्तु यह सब गौण था। उनके आदेश का सार यह था कि सदा जनता के कल्याण को दृष्टि में रखते हुए अभय और सत्य से काम करो। हमें पुराने ग्रंथों में सिखाया गया था कि अभय व्यक्ति या राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि है और उसका अभि-प्राय केवल शारीरिक साहस से ही नहीं, बल्कि मानसिक निर्भयता से भी है। हमारे इतिहास के आरम्भ में ही चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जन-नेताओं का कर्त्तव्य जनता को अभय-दान देना है। किंतु ब्रिटिश राज्य में भारत में सबसे प्रमुख भावना भय की थी—एक सर्वव्यापी, दुःखदायी और गला घोंटनेवाला भय—फौज का भय, पुलिस का भय,

कोने-कोने में फैली हुई खुफ़िया पुलिस का भय, अफसरों का भय, दमनकारी कानूनों का भय, कैद का भय, जमींदार के गुमाश्ते का भय, महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुंह बाये खड़ी रहती थी। गांधीजी ने अपनी शांत किन्तु दृढ़ आवाज़ इसी सर्वव्यापी भय के विरुद्ध बुलन्द की। उन्होंने कहा—"डरो मत!"

किन्तु क्या यह बात इतनी सरल थी? नहीं। भय के भूत खड़े हो जाते हैं, जो असली भय से भी अधिक डरावने होते हैं। जहां तक असली भय का सवाल है, जब शांति के साथ उसका विश्लेषण किया जाता है और उसके परिणामों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका बहुत कुछ डरावनापन नष्ट हो जाता है।

इस तरह भय का मानो काला परदा जनता की आंखों से एकाएक उतर गया—पूरा तो नहीं, किन्तु इतना अधिक कि आश्चर्य होता था। जिस तरह भय और झूठ में घनिष्ठ मित्रता है, उसी तरह सत्य और अभय में भी। यह तो ठीक है कि भारत की जनता पहले से बहुत अधिक सत्यवादी नहीं बन गई और न रातों ही रात उनके असली स्वभाव में ही परिवर्तन हुआ, लेकिन जैसे-जैसे झूठ और चोरों जैसे व्यवहार की आवश्यकता कम होती गई वैसे-वैसे परिवर्तन का एक समुद्र-सा लहराता दिखाई दिया। यह एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था, ऐसा मालूम होता था जैसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले किसी विशेषज्ञ ने रोगी के अतीत में गहरा उतर कर उसकी कमियों के उद्गम का पता लगा लिया हो और उन्हें उसकी दृष्टि के सामने ला-खड़ाकर उसके मन पर से उनका बोझ उतार दिया हो।

इसके अलावा हममें एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी हुई। जिस विदेशी शासन ने हमारा पतन और अपमान किया था उसके सामने इतने दिनों तक घुटने टेके रखने के कारण हमें लज्जा आई और यह इच्छा उत्पन्न हुई कि अब चाहे कुछ भी हो, हम उसके आगे सिर नहीं झुकायेंगे। जितना सच हम पहले बोलते थे शायद उससे अधिक सच बोलना हमें

नहीं आया, किन्तु गांधीजी कट्टर सत्य के प्रतीक बने सदा हमें सहारा देते रहे और लज्जित कर-करके हममें सत्य बोलने की आदत डालते रहे।

सत्य क्या है ?

सत्य क्या है ? मैं इसकी परिभाषा ठीक-ठीक नहीं जानता। शायद सत्य एक तुलनात्मक वस्तु है और सम्पूर्ण सत्य हमारी पहुंच से बाहर है। सत्य के सम्बन्ध में अलग-अलग लोगों की अलग-अलग धारणाएं हो सकती हैं और प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी अपनी पृष्ठभूमि, अपनी शिक्षा और अपनी भावनाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है। यही बात गांधीजी के साथ थी। फिर भी जहां तक किसी एक व्यक्ति का सवाल है, कम-से-कम उस के लिए सत्य वही है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है और जिसे वह जानता है कि यह सच है। इस परिभाषा के अनुसार मेरी समझ में शायद ही कोई आदमी सत्य का इतना पालन करता हो जितना गांधीजी करते हैं। राजनीतिज्ञ के लिए सत्य एक खतरनाक गुण है, क्योंकि वह अपने मन की सारी बातें बता देता है और जनता को उसके बदलते हुए रूप तक दिखा देता है।

गांधीजी ने भारत के लाखों व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न सीमा तक प्रभावित किया। कुछ लोगों ने अपने जीवन की सारी रूपरेखा ही बदल डाली और कुछ लोगों पर उनका केवल आंशिक प्रभाव पड़ा। कुछ लोग ऐसे भी थे जिनपर से उनका प्रभाव जाता रहा, किन्तु ऐसा पूर्ण रूप से नहीं हुआ, क्योंकि उनके प्रभाव के कुछ अंश को पूरी तरह से मिटाना सम्भव नहीं हो सका। जुदा-जुदा लोगों पर जुदा-जुदा तरह की प्रतिक्रिया हुई और प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का अपना अलग-अलग उत्तर देता था। कुछ लोग तो करीब-करीब आल्सीबियाडिज* के ही शब्दों में कहते थे—"इसके अलावा जब कभी हम किसी और को कुछ कहते सुनते हैं तो उसकी

*एथेन्स का जनरल और राजनेता।

बातें चाहे कितनी भी जोशीली क्यों न हों, हम इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं करते कि वह क्या कह रहा है, किन्तु जब हम आपको सुनते हैं या किसी और को आपकी बातों को दोहराते सुनते हैं तो चाहे वह उनका कितनी ही बुरी तरह से वर्णन क्यों न करता हो और उसको सुनने वाला चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री, चाहे बालक, हम बिलकुल स्तम्भित और विमुग्ध हो जाते हैं। और, महाशयो, जहां तक मेरा प्रश्न है, अगर मुझे यह भय न हो कि आप कहेंगे कि मैं बिलकुल मुग्ध हो गया हूं तो मैं शपथ लेकर कह सकता हूं कि उनके शब्दों का मुझपर कितना अद्वितीय प्रभाव पड़ा और अब भी पड़ता है। जबतक मैं उनका बोलना सुनता रहता हूं मुझमें एक पवित्र रोष भरा रहता है जो कि किसी भी कौरीबैंट* से बुरा होता है और मेरा हृदय उछलता रहता है और मेरी आंखों से आंसू बहते रहते हैं—और यह दशा मेरी ही नहीं, बल्कि और बहुत-से लोगों की भी होती है।

"हां, मैंने पेरिक्लीज़† और दूसरे सभी बड़े वक्ताओं को सुना है और मैं समझा करता था कि वे बड़े ही जोशीले वक्ता हैं, किन्तु उनका मुझपर कभी ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा, उन्होंने कभी मेरी आत्मा में उथल-पुथल नहीं मचाई और उन्हें सुनने के बाद मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं नीचों से भी नीच हूं; किंतु इन दिनों मरियाज़ को सुनने के बाद मुझे अक्सर ऐसा लगता रहा है जैसे अब भविष्य में मेरे लिए इस तरह का जीवन बिताना बिलकुल असम्भव है।

"और एक बात ऐसी है जो मैंने किसी और के साथ कभी अनुभव नहीं की और जिसे आप मुझमें भी पाने की आशा नहीं कर सकते—वह है लज्जा की भावना। इस संसार में सुकरात की ही एक ऐसी हस्ती है जो मुझे लज्जित कर सकती है। चूंकि उससे बचने का कोई रास्ता नहीं,

---

*एक ग्रीक देवी की सेविका, जो माना जाता है कि, अपनी देवी के साथ भयंकर मुद्राओं के नृत्य करती जाती थी।

†एथेन्स का राजनेता और विख्यात वक्ता।

इसलिए मैं सोच लेता हूं कि वह मुझे जो करने को कहता है उसे मुझे कर लेना चाहिए। इतने पर भी जैसे ही मैं उसकी आंखों से ओझल होता हूं मुझे इस बात की बिलकुल चिन्ता नहीं रह जाती कि मैं जनसाधारण में मिले रहने के लिए क्या कर रहा हूं। इसलिए मैं एक भागे हुए गुलाम की तरह तेजी से निकल जाता हूं और जितनी दूर तक उससे बच सकता हूं बचता हूं। जब उससे फिर कभी मुलाकात होती है तो मुझे वे सब बातें याद आती हैं जो मुझे पहले अंगीकार करनी पड़ी थीं और स्वभावतः मुझे लज्जा आती है।

"मुझे तो सांप से भी ज्यादा विषैले जानवर ने डसा है। सच पूछिए तो मुझे जो डंक लगा है वह सबसे अधिक कष्टदायक है। मेरा हृदय डसा गया है या यों कहिये कि मेरा मस्तिष्क डसा गया है या आप जो कहना चाहें वही सही।"*

किसानों का सहयोग

गांधीजी ने कांग्रेस में घुसते ही फौरन उसके विधान में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उन्होंने उसे प्रजावादी और साधारण जनता की संस्था बना दिया। प्रजावादी तो वह पहले भी थी, किन्तु अभी तक उसका मताधिकार सीमित था और वह उच्च वर्ग के लोगों तक ही परिमित थी। किंतु अब उसमें धड़ाधड़ किसान प्रवेश करने लगे और अपने नए रूप में वह एक महान ग्रामीण संस्था जैसी दिखाई देने लगी, जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों की बहुलता थी। कांग्रेस का यह ग्रामीण रूप अभी और भी विकास पाने वाला था। उसमें औद्योगिक मजदूर भी आने लगे—अपनी पृथक संगठित हैसियत में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में।

कर्म इस संस्था का आधार और उद्देश्य माना गया—वह कर्म जो शांतिपूर्ण युक्तियों पर आधारित होता है। अब तक कांग्रेस के सामने

*प्लेटो की पंचवार्त्ता (फ़ाइव डाइलौग्स ग्राव प्लेटो)

केवल दो ही विकल्प रहे थे---कोरी बातचीत करना और प्रस्ताव पास करना या फिर आतंककारी कार्रवाई करना। अब ये दोनों बातें हटा दी गईं। आतंकवाद की तो विशेष रूप से निन्दा की गई और वह कांग्रेस की आधारभूत नीति के बिलकुल प्रतिकूल माना गया। कार्य की एक नई प्रणाली निकाली गई, जो थी तो पूर्णतः शांतिपूर्ण, किन्तु जिसमें अन्याय के सामने सिर न झुकाने और, फलतः, उसमें निहित पीड़ा और कष्ट को स्वेच्छा से स्वीकार करने का आदेश था। गांधीजी एक बड़े ही विलक्षण ढंग के शांतिवादी थे, क्योंकि वह विस्फोटक स्फूर्ति से परिपूर्ण कर्मशील व्यक्ति थे। वह भाग्य या किसी भी ऐसे तत्त्व के सामने जिसे वह बुरा समझते थे सिर नहीं झुकाते थे। उनमें अपार विरोध-शक्ति थी, यद्यपि वह शक्ति शांत और विनम्र थी। गांधीजी के कर्म की पुकार दुहेरी थी---एक तो विदेशी शासन को चुनौती देने व उसका विरोध करने की, और दूसरी स्वयं अपने देश की सामाजिक बुराइयों से संघर्ष करने की। देश की स्वाधीनता और शांतिपूर्ण कार्य-प्रणाली के आधारभूत लक्ष्य के अतिरिक्त कांग्रेस के दो और भी मुख्य उद्देश्य थे---एक राष्ट्रीय एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान निहित था और दूसरा दलित जातियों का उत्थान तथा अस्पृश्यता के अभिशाप का निराकरण।

उपाधियां और नरेश

गांधीजी ने देखा कि ब्रिटिश राज्य मुख्यतः इन आधारों पर खड़ा है---भय, मर्यादा, जनता का इच्छित या अनिच्छित सहयोग और कुछ ऐसे लोग, जिनका स्वार्थ ब्रिटिश राज के साथ बंधा हुआ था। अतः उन्होंने इन्हीं जड़ों पर आघात करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, "उपाधियों का बहिष्कार करो।" और गो कि बहुत ही कम उपाधिधारियों ने उनकी बात मानी तो भी अंग्रेजों द्वारा दी जानेवाली उपाधियों पर से लोगों की आस्था हट गई और वे अपमान के चिह्न माने जाने लगे। जीवन की सार्थकता के नये-नये मान स्थापित होने लगे और वाइसराय के दरबार

और नरेशों की जो शान-शौकत लोगों को इतना प्रभावित करती थी, वह चारों ओर जनता की गरीबी और मुसीबतों से घिरी होने के कारण एकाएक बहुत ही हास्यास्पद, भद्दी और लज्जाजनक मालम देने लगी। धनी लोगों में अब अपने धन का मिथ्या प्रदर्शन करने की उतनी उत्सुकता नहीं दिखाई देती थी और कम-से-कम दिखावे के लिए तो उन्होंने सरल जीवन को अपना लिया। पोशाक में तो वे साधारण जनता से प्रायः अभिन्न हो गये।

कांग्रेस के जो पुराने नेता एक बिलकुल ही और तरह की व ज्यादा आरामतलब परम्परा में पले थे, उन्होंने ये नई शर्तें आसानी से नहीं अपनाईं और उन्हें जनता की भीड़ को देखकर चिन्ता हुई। फिर भी सारे देश को अपने प्रवाह में बहा लेजानेवाली नई विचारधारा की लहर इतनी तीव्र थी कि उसका कुछ प्रभाव उनपर भी पड़ा। कुछ लोगों ने उधर से मुंह भी मोड़ लिया और उनमें से एक मुहम्मदअली जिन्ना थे। उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया—इसलिए नहीं कि उनका हिंदू-मुस्लिम प्रश्न पर कांग्रेस से कोई मतभेद हो गया था, बल्कि इसलिए कि वह अपने को इस नई और अधिक उन्नत विचारधारा के अनुकूल नहीं बना पाये। इससे भी अधिक इस कारण से कि उन्हें बेढंगे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानी बोलने वाले लोगों का इस प्रकार झुंड-के-झुंड कांग्रेस में घुसना अच्छा नहीं लगा। उनकी समझ में राजनीति एक उच्च कोटि की वस्तु थी और धारा-सभाओं या कमेटी के कमरों के लिए अधिक उपयुक्त थी। कुछ वर्ष तक वह अपने को बिलकुल अलग समझते रहे और उन्होंने सदा के लिए भारत छोड़कर चले जाने का भी निश्चय कर लिया। वह इंग्लैण्ड में जा बसे और वहां कई साल तक रहे।

कहा जाता है, और मैं समझता हूं कि ठीक ही कहा जाता है, कि भारतवासियों का स्वभाव प्रधानतः शांत है। शायद जीवन के प्रति पुरानी जाति के लोगों की मनोवृत्ति ऐसी ही हो जाती है और बहुत दिनों से चली आई आध्यात्मिक परम्परा का भी कुछ ऐसा ही परिणाम होता है।

फिर भी गांधीजी भारत के एक आदर्श प्रतिनिधि होते हुए भी, शांतिवाद के पूरे प्रतिवाद हैं। उनमें गजब की स्फूर्ति और कर्मण्यता है, वह अपने को ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी खदेड़ते रहते हैं। भारतवासियों की धार्मिक परम्परा से युद्ध करने और उसे बदलने के लिए जितना श्रम गांधीजी ने किया है उतना मेरी जान में किसी और ने नहीं किया।

उन्होंने हमें गांवों में भेजा और भारत के देहात नए कर्म-सिद्धांत के अनगिनत संदेशवाहकों के कार्य-कलाप से गूंज उठे। किसानों की आंखें खुल गईं और वे आलस्य को तिलांजलि दे बाहर निकलने लगे। हमपर कुछ और ही तरह का प्रभाव पड़ा गोकि वह भी उतना ही गहरा और व्यापक था। हमने, मानो अपने जीवन में पहली बार, गांववालों को पास से देखा कि मिट्टी की झोपड़ियों में सदा भूख की काली छाया उनका पीछा किस तरह किये रहती है। हमें अपने देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान पुस्तकों और विद्वतापूर्ण भाषणों से भी अधिक इन दौरों से हुआ। इस प्रकार हमें जो भावुकतापूर्ण अनुभूति हुई वह दिन-पर-दिन बढ़ती और पुष्ट होती गई और उसके बाद हमारे लिए अपने पुराने ढंग के जीवन या उसके पुराने स्तर पर जाने का कोई प्रश्न नहीं रह गया, चाहे उसके पश्चात् हमारे विचारों में कितना ही परिवर्तन क्यों न होता।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधीजी के विचार बड़े उग्र थे, किंतु उन्होंने कांग्रेस पर अपने सारे विचार लादने नहीं चाहे, यद्यपि वे उन्हें विकसित करते रहे और ऐसा करते समय कभी-कभी अपने लेखों द्वारा उनमें परिवर्तन भी करते गये। फिर भी अपने कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में अवश्य घुसाना चाहा। इस दिशा में उन्होंने बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाया, क्योंकि वे अपने साथ-साथ जनता को भी ले चलना चाहते थे। कभी-कभी वे इतने आगे बढ़ जाते थे कि कांग्रेस वहां तक नहीं पहुंच पाती थी और इसलिए उन्हें पीछे लौटना पड़ता था। उनके विचारों को पूर्ण रूप से बहुत ही कम लोग मानते थे और कुछ लोग तो उनके आधारभूत दृष्टिकोण से असहमत भी थे। किंतु तत्कालीन

परिस्थितियों के अनुकूल बने रहने के लिए उनके विचार जिस संशोधित रूप में कांग्रेस के सामने आते थे उसे बहुत-से लोग स्वीकार कर लेते थे। दो बातों में उनके विचारों की पृष्ठभूमि का एक अनिश्चित किंतु पर्याप्त प्रभाव पड़ता था। हर बात की असली कसौटी यह थी कि उससे जनता को कितना लाभ पहुंचता है। साधन को सदा महत्त्व दिया जाता था और साध्य चाहे कितना ही ठीक क्यों न हो, साधन की अवहेलना नहीं की जाती थी; क्योंकि साधन ही साध्य को संचालित और परिवर्तित करता था।

हिन्दू धर्म

गांधीजी प्रधानतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनके अंग-अंग में हिंदुत्व भरा हुआ था। फिर भी उनकी धार्मिक विचारधारा का किसी मत या रीति-रिवाज से सम्बन्ध नहीं था।* उसका आधारभूत सम्बन्ध उनके नैतिक नियम में दृढ़ विश्वास से था, जिसे वह सत्य या प्रेम का नियम कहते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा एक ही वस्तु है या एक ही

---

*जनवरी, १९२८, में गांधीजी ने 'फेडरेशन आव इन्टरनेशनल फेलोशिप्स' (अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री संघ) के समक्ष कहा था—"बहुत दिनों के अध्ययन और अनुभव के बाद मैं इन निष्कर्षों पर पहुंचा हूं (१) सभी धर्म सत्य होते हैं, (२) सभी धर्मों में कोई-न-कोई भूल या कमी अवश्य होती है, (३) सभी धर्म मेरे लिए लगभग उतने ही प्यारे हैं जितना मेरा अपना हिंदू धर्म। दूसरे धार्मिक विश्वासों के लिए भी मेरे मन में उतना ही सम्मान है, जितना अपने धार्मिक विश्वास के लिए। इसलिए धर्म-परिवर्तन की कल्पना असम्भव है। औरों के लिए हमारी प्रार्थना यह कभी नहीं होनी चाहिए कि हे प्रभु, जो प्रकाश तूने हमें दिखाया है वही उन्हें भी दिखा, बल्कि हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए कि हे प्रभु, उन्हें अपने उच्चतम विकास के लिए जितने भी प्रकाश और सत्य की आवश्यकता है वह सब तू उन्हें दे।"

वस्तु के दो पहलू हैं, इसीलिए वे इन शब्दों का एक-दूसरे के लिए प्रयोग करते रहते हैं।

चूंकि गांधीजी हिंदू धर्म की आत्मा को समझने का दावा करते हैं, इसलिए वे उन सब बातों को अस्वीकार कर देते हैं जो उनकी हिंदू धर्म की आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खातीं। इन्हें वे क्षेपक या बाद की बढ़ाई हुई बातें कहकर पुकारते हैं। उन्होंने कहा है—"मैं किसी भी ऐसे पुराने विश्वास या प्रचलन का गुलाम बनने से इन्कार करता हूं जिसे मैं समझ नहीं सकता या जिसका मैं नैतिक आधार पर समर्थन नहीं कर सकता।" इसलिए व्यवहार में गांधीजी अपने चुने हुए मार्ग का अनुसरण करने, अपने को परिवर्तित कर परिस्थिति के अनुकूल बनाने और अपने जीवन तथा कर्म सम्बन्धी अध्यात्म का विकास करने में पूर्ण स्वतंत्रता से काम लेते हैं।

ऐसा करते हुए यदि उन्हें किसी बात का ध्यान रहता है तो केवल नैतिक नियम का, जैसा कि वह उनकी समझ में होना चाहिए। इस अध्यात्म की शुद्धता-अशुद्धता पर विवाद हो सकता है, किंतु वह सभी बातों को—विशेषतः अपने को—एक ही आधारभूत मापदंड से नापने पर जोर देते हैं। इसके फलस्वरूप साधारण व्यक्ति के लिए राजनीति और जीवन के अन्य क्षेत्रों में कठिनाई और अक्सर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किंतु कठिनाइयां उन्हें अपने चुने हुए सीधे मार्ग पर चलने से विचलित नहीं करतीं, यद्यपि कुछ सीमा तक वह अपने को सदा परिवर्तनशील परिस्थिति के अनुकूल बनाते रहते हैं। वह दूसरों के लिए जो कुछ भी सुधार बताते हैं या वह दूसरों को जो कुछ भी सलाह देते हैं उसका फौरन अपनेआप पर प्रयोग करते हैं। वह सदा अपने से ही आरम्भ करते हैं और उनके वचन और कर्म सदा एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं। यही कारण है कि कभी उनकी समग्रता नष्ट नहीं होती और उनके जीवन तथा कार्य में सदा अभिन्नता रहती है। अपनी असफलताओं तक में वह उन्नति की ही ओर बढ़ते दिखाई देते हैं।

जिस भारत को वह अपनी इच्छा और आदर्श के अनुकूल बनाना

चाहते हैं उसके सम्बन्ध में उनकी भावनाएं क्या हैं ? उन्होंने कहा है—"मैं एक ऐसे भारत के लिए प्रयत्न करना चाहता हूं, जिसमें निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति भी यह अनुभव कर सकेंगे कि यह उनका अपना देश है, जिसके निर्माण में उनकी भी सुनी जायगी, जिसमें ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं होगा, जिसमें सभी जातियां पूर्ण सामंजस्य के साथ जीवनयापन करेंगी। ऐसे भारत में छुआछूत और मादक पदार्थों का शाप नहीं होगा, स्त्रियों को पुरूषों के ही समान अधिकार मिलेंगे...यह है वह भारत जिसके मैं स्वप्न देखा करता हूं।"

गांधीजी को हिंदू जाति में जन्म लेने का गर्व था। उन्होंने हिंदू धर्म को एक प्रकार का विश्वव्यापक रूप देना चाहा और सत्य की सीमा में सभी प्रकार के धर्मों को सम्मिलित कर लिया। उन्होंने अपने पूर्वजों से पाई हुई सांस्कृतिक सम्पत्ति को संकुचित करना नहीं चाहा। उन्होंने लिखा है—"भारतीय संस्कृति म तो पूर्ण रूप से हिंदू है, न मुस्लिम, न कोई और। वह इन सबका मेल है।" उन्होंने यह भी कहा, "मैं चाहता हूं कि सभी देशों की संस्कृतियां मेरे घर के पास जितनी भी संभव हो उतनी स्वतंत्रता के साथ उड़ती रहें, किंतु मैं इस बात के लिए तैयार नहीं कि उनमें से कोई मुझे उड़ा लेजाय। मैं दूसरों के घर में बिना अधिकार प्रवेश करनेवाले व्यक्ति या भिखारी या दास के रूप में रहने को तैयार नहीं।" आधुनिक विचारधाराओं में पड़कर गांधीजी ने कभी भी अपनी जड़ों को हिलने नहीं दिया और उन्हें मजबूती के साथ पकड़े रखा।

आत्मिक एकता

इसलिए उन्होंने लोगों की आत्मिक एकता को पुनः स्थापित करने, पश्चिमी रंग में रंगे हुए उच्च स्तर के लोगों और जनता के बीच की दीवार को गिराने, पुरानी जड़ों के सजीव तत्त्वों को ढूंढ़कर उन्हें शक्तिशाली बनाने और जनता को उसकी मूर्छा तथा अवरुद्ध अवस्था से निकाल कर कर्मठ बनाने का कार्य आरम्भ किया। उनके एकमुखी मार्ग और

बहिर्मुखी स्वभाव को देखकर लोगों की जो खास धारणा होती थी वह यह थी कि उन्होंने अपने को जनता में लीन कर दिया है, उसकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिला दिया है और केवल भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के असहायों और निर्धनों के साथ तादात्म्य की उनमें एक आश्चर्यजनक भावना है। पददलितों के उत्थान की उनमें जो उत्कट अभिलाषा थी उसके सामने उनके लिए धर्म तक गौण बन जाता था। "जिस देश के लोग अधभूखे हों उसका न कोई धर्म हो सकता है, न कोई कला, न कोई संगठन।" "जो भी चीज भूखों मरती हुई लाखों जनता के लिए उपयोगी हो सकती है, वही मेरी दृष्टि में सुन्दर है। उन्हें हमें पहले जीवन की सबसे आवश्यक चीजें देनी चाहिएं, फिर तो जीवन की सब शोभाएं और अलंकार बाद में आ ही जायंगे।"..."मैं ऐसी कला और ऐसा साहित्य चाहता हूं जो लाखों से बोल सके।" ये लाखों असहाय और अभागे सदा उनके मस्तक में चक्कर काटते रहते थे और ऐसा लगता था जैसे उनकी सारी विचारधारा उन्हीं के चारों ओर घूमती रहती है। "लाखों के सामने दो ही विकल्प हैं—या तो निरन्तर चौकीदारी या चिरनिद्रा।" वह कहते थे कि मेरी आकांक्षा "हर आंख से हर आंसू को पोंछ डालना है।"

इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि इस आश्चर्यजनक जीवनी-शक्तिवाले व्यक्ति ने, जो आत्म-विश्वास और असाधारण ढंग के बल से ओतप्रोत था, और जो प्रत्येक व्यक्ति की समानता तथा स्वाधीनता का हामी था और जो इन सब बातों को निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति की दृष्टि से देखता था, भारत के जनसाधारण को मुग्ध कर लिया और उन्हें एक चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। लोगों को ऐसा लगता था जैसे यह व्यक्ति भूत और भविष्य को जोड़नेवाली एक कड़ी है और उसने नीरस वर्त्तमान को भावी जीवन और आशाओं तक पहुंचने की सीढ़ी बना दिया है। ऐसा केवल जनता को ही नहीं लगा, बल्कि सुशिक्षित विद्वानों और दूसरे लोगों को भी अनुभव होता था—यद्यपि उनके चित्त सदा चिंता और भ्रम से भरे

रहते थे और उन्हें जन्म-जन्मांतर से चली आई परम्पराओं को छोड़ना अधिक कठिन था। इस प्रकार उन्होंने केवल अपने अनुयायियों में ही नहीं, बल्कि अपने विरोधियों और उन तटस्थ लोगों में भी, जो यह निश्चय ही नहीं कर पाते थे कि उन्हें क्या सोचना और क्या करना है, एक जबरदस्त मनोवैज्ञानिक क्रांति उत्पन्न कर दी।

कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभुत्व था और वह एक विचित्र प्रकार का प्रभुत्व था, क्योंकि कांग्रेस एक क्रियाशील, विद्रोही और बहिर्मुखी संस्था थी, जिसमें जुदे-जुदे मत के लोग थे और जिसे इधर या उधर ले जाना आसान नहीं था। अक्सर गांधीजी दूसरों की इच्छाएं पूरी करने के लिए अपना आग्रह कम कर देते थे, और कभी-कभी तो प्रतिकूल निर्णय भी स्वीकार कर लेते थे। किसी-किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वे टस-से-मस नहीं होते थे और अक्सर उनमें और कांग्रेस में मतभेद हो जाता था। फिर भी वे सदा भारत की स्वतंत्रता और संघर्षशील राष्ट्रीयता के प्रतीक थे और जो लोग मातृभूमि को दास बनाये रखने की चेष्टा करते थे उनके वे कट्टर विरोधी थे। इसी प्रतीक के रूप में जनता दूसरी बातों में असहमत होती हुई भी उन्हें घेरे रहती थी और उनका नेतृत्व स्वीकार करती थी। जब कोई क्रियात्मक संघर्ष नहीं चलता होता था तब तो कभी-कभी लोग उनका नेतृत्व स्वीकार नहीं करते थे, किंतु जब संघर्ष अनिवार्य हो जाता था तब सबसे अधिक महत्ता उन्हें ही दी जाने लगती थी और अन्य बातें गौण बन जाती थीं।

जन-आंदोलन

स्मरण रहे कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन, अन्य सभी राष्ट्रीय आंदोलनों की भांति, धनिक वर्ग का आंदोलन था। वह उन्नति के एक, स्वाभाविक और ऐतिहासिक क्रम का द्योतक था और उसे मजदूर-वर्ग का आंदोलन कहना या इस नाम से उसकी आलोचना करना ठीक नहीं। गांधीजी इस आंदोलन का और उससे संबंधित भारतीय जनता का बड़े

ही उत्तम प्रकार से प्रतिनिधित्व करते थे और इस दृष्टिकोण से वह जन-साधारण की आवाज बन गये थे। वह सदा अपने को राष्ट्रीय विचार-धारा की सीमा के भीतर रख कर ही कार्य किया करते थे, किंतु जो आग उनके अन्तरतम में हर समय जलती रहती थी वह थी जनता को ऊंचा उठाने की आकांक्षा। इस दृष्टि से वह सदा राष्ट्रीय आंदोलन से आगे रहे और उसे उन्होंने धीरे-धीरे--स्वयं उसीकी विचारधारा की सीमा के भीतर--इस नई दिशा में मोड़ा। अकेले भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार की आर्थिक घटनाओं ने बड़े जोरों से भारतीय राष्ट्रीयता को महत्त्व-पूर्ण सामाजिक सुधारों की ओर ढकेला और आज वह एक नई सामाजिक विचारधारा के तट पर कुछ-कुछ अनिश्चित-सी खड़ी है।

किंतु गांधीजी ने भारत और भारतीय जनता को जो कुछ मुख्य रूप से दिया वह कांग्रेस के जरिये शक्तिशाली आंदोलन चलाकर ही दिया। देशव्यापी कार्रवाई द्वारा उन्होंने लाखों को नए सांचे में ढालना चाहा और इस कार्य में उन्हें बड़ी सफलता मिली। उन्होंने पतित, कायर और निराश जनता को, जिसे अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीड़ित और पददलित करते आये थे और जिनमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी, ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गई। उन्होंने उसे इस योग्य बना दिया कि वह राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार कर सके, यहां तक कि गांव-गांव और बाजार-बाजार में इन नई विचारधाराओं और आशाओं की चर्चाएं होने लगीं। यह एक आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। इसके लिए समय भी अनुकूल था और परिस्थितियों तथा विश्व की घटनाओं ने इस परिवर्तन को लाने में योग दिया। किंतु परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए एक महान् नेता की आवश्यकता होती है। वह नेता हमें गांधी के रूप में मिला, जिसने हमें उन अनेक बंधनों से मुक्त कर दिया

जिन्होंने हमें जकड़ रखा था और हमारे मस्तिष्क को निरर्थक बना दिया था। भारतीय जनता के हृदय पर छा जाने वाली मुक्ति और हर्ष की उस महान् अनुभूति को हममें से जिन लोगों ने भी महसूस किया वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। गांधीजी ने भारत के उत्थान में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी भाग लिया, क्योंकि उन्हें पराधीन परिस्थितियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना आता था और वे जनता के हृदय को छू सकते थे। इसके विपरीत बहुत-से अधिक उन्नत विचारवाले दल यों ही लटकते रह गये, क्योंकि वे अपने को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना सके और इसलिए जनसाधारण में ठोस सहयोग की भावना जाग्रत नहीं कर सके।

जनता का उत्थान

यह बिलकुल सत्य है कि राष्ट्रीय क्षेत्र के धरातल पर कार्य करते समय गांधीजी वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से कुछ नहीं सोचते, बल्कि वर्गीय मतभेदों को दूर करने का ही प्रयत्न करते हैं। किंतु उन्होंने जो कुछ भी किया और जनता को सिखाया है उससे सदा ही बड़ी जबरदस्त जन-जाग्रति हुई है और सामाजिक समस्याओं को महत्ता मिली है। इसके अलावा उन्होंने जरूरत पड़ने पर कुछ विशेष वर्गों को नुकसान पहुंचाकर भी जनता को ऊपर उठाने पर बार-बार जो जोर दिया, उससे राष्ट्रीय आंदोलन में जन-पक्ष में एक जबरदस्त परिवर्तन हुआ।

निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरोध में एक संयुक्त मोर्चे का काम करती रही है।

गांधीजी और कांग्रेस का मूल्य उनके द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों और किये जाने वाले कार्य के आधार पर ही आंका जाना चाहिए। किंतु इसमें व्यक्तित्व काम करता है और इन नीतियों तथा कामों को अपने रंग में रंग देता है। जहां तक गांधीजी जैसे अत्यन्त विशिष्ट व्यक्ति का सवाल है, उन्हें समझने और उनका मूल्य आंकने के लिए व्यक्तित्व का

प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अंग्रेज पत्रकार श्री जार्ज स्लोकम्ब ने, जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले संसार भर के साधारण और असाधारण व्यक्तियों का अनुभव है, अपनी एक नई पुस्तक में गांधीजी का उल्लेख किया है। वह प्रकरण रोचक और उद्धृत करने योग्य है। उसमें लिखा है--"इतना ज्यादा ईमानदार और सच्चा आदमी मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। आत्म-प्रशंसा, अहंकार, अवसर-वादिता और महत्त्वाकांक्षा की ओर उसका बहुत ही कम झुकाव है, यद्यपि ये बातें अधिक या कम मात्रा में इस संसार के अन्य सभी महान् राजनैतिक व्यक्तियों में पाई जाती हैं।"--हमें किसी अंग्रेज पत्रकार के मत से अधिक प्रभावित होने की जरूरत नहीं और न किसी के हृदय की सचाई के बल पर उसकी अशुद्ध नीति या भ्रमपूर्ण विचारों का ही समर्थन किया जा सकता है; किंतु स्थिति यह है कि यही मत भारत के लाखों व्यक्तियों का है। जो शब्द बिना सोचे-समझे सभी साधारण राजनीतिज्ञों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हीं शब्दों में गांधीजी जैसे अनोखे और अद्वितीय व्यक्तित्व का उल्लेख करना एक बड़ी ही ऊपरी आलोचना है। हम भारतीयों का गांधीजी से अक्सर मतभेद रहा है, अब भी कई बातों में हम उनसे सहमत नहीं होते और कभी-कभी पृथक् मार्ग भी ग्रहण कर लेते हैं, किंतु उनके साथ और उनकी अधीनता में रहकर एक महान् हित के लिए कार्य करना हमारे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य रहा है। हमारे लिए वह भारत की आत्मा और मर्यादा के प्रतीक रहे हैं, लाखों संतप्तों की अपने अनगिनत बोझों से मुक्त होने की लालसा की प्रतिमूर्त्ति रहे हैं और ब्रिटिश सरकार या किसी और के द्वारा उनका अपमान किया जाना मानो भारत और भारतीय जनता का अपमान रहा है।

विश्व-संघ

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा दिखाई जिससे हमारी निराशा और कटुता की भावनाएं कम हो गईं। ये भावनाएं

बिलकुल समाप्त तो नहीं हुई, लेकिन मेरी जानकारी में ऐसा कोई दूसरा राष्ट्रीय आंदोलन नहीं जो घृणा से इतना मुक्त रहा हो जितना कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन रहा है। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर साथ ही वह यह भी महसूस करते थे कि उन्हें भारत ही नहीं, बल्कि सारे संसार को संदेश देना है। उन्हें विश्व-शांति की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था। वह राष्ट्रीयता आक्रमणकारी लालसा से पूरी तरह से मुक्त थी। भारत की स्वतंत्रता के आकांक्षी होने के कारण गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि एक-दूसरे पर निर्भर रहनेवाले राज्यों का विश्व-संघ ही एक-मात्र सच्चा उद्देश्य है, चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो। उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाय, लेकिन अगर जरूरत पड़े तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिए वह सारा-का-सारा नष्ट हो जाय। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी ही होनी चाहिए।" और—"मैं सारे विश्व के दृष्टिकोण से सोचना चाहता हूं। मेरे देश-प्रेम में साधारण रूप से सारी मानव—जाति का हित सम्मिलित है। इसलिए भारत के प्रति मेरी सेवा में मानव-जाति की सेवा शामिल है।... विश्व-राज्यों का लक्ष्य पृथक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि स्वेच्छित अन्तर्-निर्भरता है। संसार के उन्नत विचार वाले लोग आज एक-दूसरे से लड़ने वाले पूर्णतः स्वतंत्र राष्ट्रों की इच्छा नहीं रखते, बल्कि मित्रतापूर्ण और एक-दूसरे पर निर्भर राज्यों का संघ चाहते हैं। हो सकता है कि इस आकांक्षा की पूर्ति अभी दूर हो। मैं अपने देश के लिए कोई बहुत बड़ा दावा नहीं करना चाहता, किंतु स्वतंत्रता के बदले अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्-निर्भरता का समर्थन करना मेरी समझ में कोई बड़ा अथवा असंभव कार्य नहीं। मैं चाहता हूं कि हममें पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने की योग्यता तो हो, लेकिन उसकी डींग हांकने की नहीं।"

*

२

सन् १९२१ का साल बड़ी ही तनातनी का साल था और अफसरों को क्रोधित, परेशान और विचलित करने की बहुत-सी बातें हुईं। जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, जो कुछ सोचा जा रहा था वह उससे भी बुरा था। मुझे एक उदाहरण याद है जिससे इस मानसिक उपद्रव का प्रमाण मिलता है। मेरी बहन स्वरूप* की शादी के लिए १० मई, १९२१ की तारीख तै की गई थी। यह शादी इलाहाबाद में होने वाली थी और, जैसा कि ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, उसकी ठीक-ठीक तारीख पत्रा से हिसाब लगाकर निश्चित की गई थी और दिन भी शुभ छांटा गया था। गांधीजी और बहुत-से दूसरे प्रमुख कांग्रेसी, जिनमें अली बंधु भी शामिल थे, इस अवसर पर निमंत्रित किये गये थे और उनकी सुविधा के लिए उन्हीं दिनों कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक भी इलाहाबाद में बुला ली गई थी। स्थानीय कांग्रेसियों ने बाहर से आने वाले प्रसिद्ध नेताओं की उपस्थिति से लाभ उठाना चाहा और बड़े पैमाने पर एक जिला कांफ्रेंस का आयोजन किया। उन्हें आशा थी कि आसपास के किसान उसमें भाग लेने के लिए बहुत बड़ी संख्या में आयंगे।

इन राजनैतिक सभाओं की वजह से इलाहाबाद में बड़ी चहल-पहल और उत्तेजना फैली हुई थी। कुछ लोगों के स्नायु पर तो इसका

---

*श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित.

उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। एक दिन मुझे अपने एक बैरिस्टर मित्र से पता चला कि अंग्रेज लोग बिलकुल घबरा गये हैं और वे शहर में एक आकस्मिक उपद्रव की आशंका कर रहे हैं। उन्हें अपने भारतीय नौकरों पर विश्वास नहीं होता था और वे अपनी जेबों में रिवाल्वर लिये फिरते थे। प्राइवेट तौर पर तो यहां तक कहा जाता था कि इलाहाबाद के किले को इस बात के लिए तैयार रखा गया है कि जरूरत पड़ने पर अंग्रेज लोग भागकर वहां चले जायं। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ और मैं समझ नहीं सका कि किसी को इलाहाबाद जैसे सुप्त और शांत शहर में एकाएक उपद्रव की सम्भावना की कल्पना क्यों हुई और वह भी एक ऐसे समय में जबकि अहिंसा का देवदूत ही वहां आने वाला था! कहा जाता था कि १० मई—जो कि संयोगवश मेरी बहन की शादी के लिए तै हुई थी—सन् १८५७ में मेरठ में आरम्भ हुए गदर की वार्षिक तिथि है और वह इलाहाबाद में मनाई जायेगी।

धर्म पर जोर

गांधीजी सदा राष्ट्रीय आंदोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म कोई कट्टरपंथी धर्म नहीं था, फिर भी उसमें जीवन के प्रति एक निश्चित धार्मिक दृष्टिकोण का निर्देश अवश्य था। इसका सारे आंदोलन पर बड़ा गहरा असर पड़ा और जहां तक जनता का सवाल है उसने एक सजीव आंदोलन का रूप धारण कर लिया। स्वभावतः कांग्रेस के अधिकांश कार्यकर्त्ताओं ने अपने को अपने नेता के सांचे में ढालने की चेष्टा की और उनके शब्दों तक को दुहराया। फिर भी कार्यसमिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी—मेरे पिता, देशबंधु दास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष नहीं थे और वे राजनैतिक प्रश्नों का राजनैतिक धरातल पर ही विचार किया करते थे। अपने सार्वजनिक भाषणों में वे धर्म को नहीं लपेटते थे, किंतु वे जो कुछ भी करते थे उसका जनता पर उनके द्वारा

उपस्थित किये गये निजी उदाहरण की तुलना में बहुत ही कम प्रभाव पड़ता था। यह संसार जिन चीजों को बहुमूल्य समझता है उनमें से बहुतों का परित्याग करके उन्होंने सरल जीवन को अपनाया था। उनका यह कार्य ही धर्म की निशानी माना जाता था और उससे पुनरुज्जीवन का वातावरण उपस्थित करने में सहायता मिली।

हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की ओर से राजनीति में इस प्रकार के धार्मिक तत्त्व का विकास होते देख मुझे दुःख हुआ करता था। मुझे यह बिलकुल पसंद नहीं था। मौलवी, मौलाना, स्वामी और ऐसे ही दूसरे लोग अपने सार्वजनिक भाषणों में जो कुछ कहा करते थे उसमें से अधिकांश मुझे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता था। उनका इतिहास, समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र सब कुछ मुझे गलत मालूम होता था और हर बात को घुमा-फिरा कर धर्म के रंग में रंगने का जो प्रयत्न किया जाता था उसके कारण साफ-साफ सोच सकना असम्भव हो जाता था। कभी-कभी तो गांधीजी के भी कुछ शब्द मुझे बुरे लगते थे, जैसे कि उनका बारबार रामराज का उल्लेख करना और कहना कि वह सुनहरा युग फिर आनेवाला है। किंतु मुझ में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी और मैं यह सोचकर अपने मन को समझा लिया करता था कि गांधीजी इन शब्दों का प्रयोग इसलिए करते हैं कि जनता उन्हें अच्छी तरह से जानती और समझती है। जनता के हृदय तक पहुंचने की उनमें आश्चर्यजनक योग्यता थी।

लेकिन मैं इन बातों की अधिक चिंता नहीं किया करता था। मेरे पास अपना ही काम इतना ज्यादा था और आंदोलन की उन्नति की इतनी चिंता रहती थी कि इन छोटी-मोटी बातों की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिलता था—उन दिनों मैं इन्हें छोटी बातें ही समझा करता था। हमारे बड़े आंदोलन में सभी तरह के लोग थे और जब तक हमारे कार्य की मुख्य दिशा ठीक थी तब तक छोटी-मोटी विपरीत धाराओं से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था। जहां तक स्वयं गांधीजी का प्रश्न है, उन्हें समझना

बड़ा कठिन था। कभी-कभी उनकी भाषा आजकल के एक साधारण व्यक्ति के लिए प्राय: पूर्णतः अग्राह्य होती थी, किंतु हम यह अनुभव करते थे कि हम उन्हें इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि इस बात को समझ सकते हैं कि वह एक महान् व निराले पुरुष तथा कीर्तिवान् नेता हैं। इस प्रकार गांधीजी पर विश्वास कर हमने अपनी ओर से उन्हें, कम-से-कम उस समय के लिए सफ़ेद-स्याह करने का पूरा अधिकार दिया था। अक्सर हम उनकी झक और विचित्रताओं पर अपनेआप में बहस किया करते थे, और हंसी-हंसी में कहा करते थे कि स्वराज मिलने पर उनकी इन झकों को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

फिर भी हम में से बहुत से लोग राजनैतिक और दूसरे मामलों में उनसे इतने अधिक प्रभावित थे कि धार्मिक क्षेत्र में भी उस प्रभाव से पूरी तरह से बच नहीं सकते थे। जहां कि प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने में सफलता नहीं मिल सकती थी वहां बहुत-सी परोक्ष युक्तियों से हमारी रक्षा-पंक्ति कमजोर बना दी गई थी। धर्म के दिखावटी तरीके मुझे प्रभावित नहीं करते थे और तथाकथित धर्मात्माओं द्वारा जनता का शोषण मुझे बिलकुल पसन्द नहीं था, फिर भी मैं उसकी ओर थोड़ा-बहुत झुक ही गया। धार्मिक प्रवृत्ति के जितना निकट मैं सन् १९२१ में पहुंच गया था उतना अपने बचपन से लेकर तब तक कभी नहीं पहुंचा था। फिर भी मैं उसके बहुत निकट नहीं गया।

नीतिपूर्ण राजनीति

जो बात मुझे अच्छी लगती थी वह थी हमारे आंदोलन और सत्याग्रह की नैतिक दिशा। मैंने अहिंसा के सिद्धांत की पूरी-पूरी अधीनता नहीं मानी और न उसे सदा के लिए स्वीकार ही किया, किंतु मैं उसकी ओर दिन-पर-दिन अधिक आकर्षित होता गया और मेरे मन में यह विश्वास जड़ पकड़ता गया कि अपनी परिस्थिति, पृष्ठभूमि और परम्पराओं के कारण हम भारतीयों के लिए यही ठीक नीति है। राजनीति के आध्यात्मी-

करण का विचार मुझे बड़ा सुन्दर प्रतीत हुआ। यहां आध्यात्मीकरण से मेरा अभिप्राय उसके संकीर्ण धार्मिक अर्थ से नहीं है। एक योग्य साध्य तक पहुंचने के साधन भी योग्य होने चाहिए। यह बात एक श्रेष्ठ नैतिक सिद्धांत ही नहीं, बल्कि एक स्वस्थ व्यावहारिक राजनीति मालूम पड़ती थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर साध्य का ही अंत कर देते हैं और उनसे नई समस्याएं तथा कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं। और फिर, ऐसे साधनों को अंगीकार करना, जो कीचड़ में से होकर गुजरने के समान हैं, व्यक्ति या राष्ट्र के आत्मसम्मान के लिए बड़ा अशोभनीय और अपमान जनक मालूम होता है। हम उसके दूषित प्रभाव से किस तरह बच सकते हैं? यदि हम झुक कर या रेंग कर चलते हैं तो हमारे लिए तेजी से और मर्य्यादा के साथ चलना कैसे सम्भव हो सकता है?

उस समय मेरे विचार ऐसे ही थे और असहयोग आंदोलन ने मुझे वे ही चीजें दीं जो मैं चाहता था—अर्थात् राष्ट्रीय स्वतंत्रता का लक्ष्य और (जैसा कि मैं समझता था) पददलितों के शोषण का अंत। साथ ही उसने मुझे एक ऐसा साधन प्रदान किया जिससे मेरी नैतिक जिज्ञासा शांत हो गई और मुझे एक व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अनुभूति हुई। यह व्यक्तिगत संतोष इतना जबरदस्त था कि उसके सामने असफलता की सम्भावना तक नगण्य प्रतीत हुई, क्योंकि इस तरह की असफलता अस्थायी हो सकती थी। मैं भगवद्गीता के दार्शनिक अंग को नहीं समझ पाता था और न उसकी ओर आकृष्ट ही होता था, किंतु मैं उसके उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था जो कि गांधीजी के आश्रम में सायंकालीन प्रार्थना में रोज़ पढ़े जाते थे और जिनमें बताया गया है कि मनुष्य को अपने उद्देश्य में शांत, प्रसन्नचित्त और दृढ़ रहते हुए कर्त्तव्य का पालन करते रहना चाहिए और उसके परिणाम की अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। चूंकि मैं स्वयं बहुत शांत और विरक्त नहीं था, इसलिए मैं समझता हूं कि वह आदर्श मुझे और भी भाया।

थोड़ी घृणा

सन् १९२१ हमारे लिए एक अद्वितीय साल था। राष्ट्रीयता के साथ राजनीति का और धर्म के साथ रहस्यवाद और धार्मिक उन्माद का एक विचित्र मेल चल रहा था। इन सबकी जड़ में गांवों की अशांति और बड़े शहरों में निद्रित अवस्था से जागते हुए मजदूरों का आंदोलन था। राष्ट्रीयता और सारे देश में फैली हुई एक अनिश्चित किंतु तीव्र आदर्शवाद की लहर इन भिन्न-भिन्न—और कभी-कभी एक-दूसरे के विरोधी—असंतुष्ट तत्त्वों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न कर रही थी और इसमें उसे जबरदस्त कामयाबी भी हासिल हुई। इतने पर भी यह राष्ट्रीयता स्वयं एक मिश्रित प्रेरणा थी और उसमें तीन तरह की राष्ट्रीय धाराएं साफ-साफ बहती दिखाई दे रही थीं—एक हिन्दू राष्ट्रीयता, दूसरी मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसकी दृष्टि कुछ हदतक भारतीय सीमाओं के उस पार लगी हुई थी और तीसरी भारतीय राष्ट्रीयता, जो उस समय की विचारधारा के अधिक अनुकूल थी। कुछ समय के लिए तो वे सब एक दूसरे में मिल गई थीं और साथ-साथ ज़ोर लगा रही थीं। सब जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' सुनाई देती थी। यह एक अद्भुत बात थी कि गांधीजी ने मानो सभी श्रेणियों और समूहों के लोगों पर एक मंत्र-सा डाल दिया था और उन्हें एक ही दिशा में आगे बढ़ने के लिए संघर्ष करती हुई एक सामूहिक भीड़ में ला खड़ा किया था। यदि मैं एक दूसरे नेता के लिए प्रयोग में लाये गये शब्दों का उल्लेख करूं तो कह सकता हूं कि गांधीजी "जन साधारण की भ्रमित आकांक्षाओं की एक सांकेतिक अभिव्यक्ति बन गये थे।"

इससे भी ज्यादा मार्के की बात यह थी कि जिन विदेशी शासकों के विरुद्ध ये आकांक्षाएं और उत्कंठाएं निर्देशित थीं, उनके प्रति उनमें घृणा की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत ही कम थी। निश्चय ही राष्ट्रीयता एक विरोधी भावना है और वह दूसरे राष्ट्रीय समूहों—खास तौर से एक गुलाम देश के विदेशी शासकों—के प्रति घृणा और क्रोध का पोषण करके ही फूलती-फलती है। सन् १९२१ में भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजों के

विरुद्ध घृणा और क्रोध की यह भावना अवश्य थी, किंतु ऐसी ही स्थिति वाले दूसरे देशों की तुलना में वह बहुत ही कम थी। निश्चय ही यह गांधीजी के बराबर अहिंसा पर जोर देने के कारण था। इसकी एक दूसरी वजह मुक्ति और शक्ति की वह भावना भी थी जो असहयोग आंदोलन के आरम्भ होने से सारे देश में आगई थी। उसके साथ ही निकट भविष्य में ही उसके सफल होने का व्यापक विश्वास भी था। हम सोचते थे कि जब हमें इतनी सफलता मिल रही है और जल्दी ही विजयी होने की आशा है तो क्रोध क्यों करें और अपने हृदय में घृणा को स्थान क्यों दें? हमने यह अनुभव किया कि हम दयालुता दिखला सकते हैं।

इतनी दयालुता हमारे हृदय में उन इनेगिने अपने ही भाई-बंधुओं के लिए नहीं थी जो हमारे विपक्ष में थे और राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करते थे, यद्यपि उनके प्रति भी हमारा काम सावधानीपूर्ण और उचित ही था। सच पूछिए तो उनसे घृणा और क्रोध करने का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि वे बिलकुल प्रभावशून्य थे और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। फिर भी उनकी कमजोरी, अवसरवादिता और राष्ट्र की मर्य्यादा व आत्म-सम्मान के साथ धोखा करने के कारण उनके लिए हमारे अन्तः-प्रदेश में घृणा भरी हुई थी।

इस प्रकार हम अपने कार्य के उत्साह में भर कर अनिश्चित ढंग से किंतु दृढ़तापूर्वक चलते रहे, पर हमारे लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई भी स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। अब हमें यह सोचकर आश्चर्य होता है कि हमने सैद्धांतिक पहलुओं को—अर्थात् अपने आंदोलन के आध्यात्मिक और निश्चित लक्ष्य को—किस तरह बिलकुल भुला दिया था। यह तो ठीक है कि 'स्वराज' के सम्बन्ध में हम सब बड़ी ऊंची-ऊंची बातें करते थे, किंतु हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस शब्द की अपनी व्याख्या अलग-अलग करता था। अधिकांश नवयुवकों के लिए स्वराज का अर्थ था राजनैतिक स्वतंत्रता (या कुछ ऐसी ही चीज) और जनतंत्रीय शासन-प्रणाली। यह बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा भी करते थे। हममें से बहुत से लोग तो यहां तक सोचते

थे कि इससे मजदूरों और किसानों पर से वह बोझ अवश्य उतर जायेगा जिसके नीचे आज वे दबे हुए हैं। किंतु यह स्पष्ट था कि अधिकांश नेताओं की दृष्टि में स्वराज का अर्थ स्वतंत्रता से बहुत कम था। इस विषय में गांधीजी के विचार भी कुछ अजीब अनिश्चित-से थे और वे इस दिशा में स्पष्ट चिंतन को प्रोत्साहन भी नहीं देते थे। फिर भी वह सदा पददलितों की ओर से—अनिश्चित रूप से, किंतु दृढ़तापूर्वक—बोला करते थे जिससे हममें से बहुतों को बड़ा संतोष होता था। लेकिन गांधीजी सदा उच्च श्रेणी के लोगों को भी आश्वासन दिया करते थे। वह कभी किसी समस्या पर बौद्धिक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता पर जोर नहीं देते थे, बल्कि सदा चरित्र और पवित्रता की महिमा गाया करते थे। भारतीय जनता की रीढ़ की हड्डी को शक्ति प्रदान करने और उसे चरित्रवान बनाने में उन्हें निस्संदेह भारी सफलता मिली।

जनता में इस आश्चर्यजनक उत्थान ने ही हममें विश्वास की भावना भरी। भ्रष्ट, पिछड़ी हुई और निराश जनता ने एकाएक अपनी पीठ सीधी की, अपना सिर ऊपर उठाया और वह एक देशव्यापी अनुशासित तथा संयुक्त आंदोलन में भाग लेने लगी। हमें ऐसा लगा कि अकेला यही काम जनता में अबाध शक्ति भर देगा। हमने इस बात की चिंता नहीं की कि कार्य के पीछे विचारशक्ति भी होनी चाहिए, हम यह भूल गये कि चेतनापूर्ण विचारधारा और लक्ष्य के बिना जनता की शक्ति और उत्साह का अंत में अधिकतः ह्रास हो जाता है। कुछ सीमा तक हम अपने आंदोलन की सजीव भावना के सहारे चलते रहे। हममें यह धारणा बंध गई कि राजनैतिक या आर्थिक आंदोलनों को चलाने या अन्याय को दूर करने के लिए अहिंसा की जो कल्पना की गई है उसमें एक नया संदेश है जिसे संसार के कोने-कोने तक पहुंचाने का सौभाग्य हमारी जनता को मिलना है। सभी लोगों और सभी राष्ट्रों में यह जो विचित्र भ्रम होता है कि वे किसी-न-किसी रूप में इस संसार के चुने हुए व्यक्ति हैं, उसी भ्रम के हम भी शिकार बन गये। अहिंसा-युद्ध और सभी प्रकार के हिंसात्मक

संघर्ष का नैतिक पर्यायवाची था। वह केवल नैतिक ही नहीं, बल्कि प्रभावकारी भी था। मैं समझता हूं कि गांधीजी के मशीन और आधुनिक सभ्यता सम्बन्धी पुराने विचारों को हममें से बहुत ही कम लोगों ने स्वीकार किया। हम सोचते थे कि वह खुद भी इन विचारों को पुराने और आधुनिक स्थितियों के अयोग्य समझते थे। निस्संदेह हममें से अधिकांश लोग आधुनिक सभ्यता की सफलताओं को अस्वीकार करने को तैयार नहीं थे, चाहे हमने यह क्यों न अनुभव किया हो कि उन्हें भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिए थोड़ा-बहुत परिवर्तन सम्भव है। व्यक्तिगत रूप से मुझे बड़ी-बड़ी मशीनों और तेज यात्रा में सदा ही एक आकर्षण का अनुभव होता रहा है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीजी की विचार-धारा का बहुतों पर प्रभाव पड़ा और वे लोग मशीनयुग तथा उसके समस्त परिणामों के आलोचक बन गये। इस प्रकार, जहां कुछ लोग भविष्य की ओर देखते थे वहां कुछ अतीत की ओर देखने लगे और आश्चर्य की बात यह कि दोनों ही यह अनुभव करते थे कि वे मिलकर जो काम कर रहे हैं वह करने योग्य है। इससे त्याग और आत्मोत्सर्ग करना आसान हो गया।

गांधीजी की पहली गिरफ्तारी

अनुमान किया जाता है कि असहयोग आंदोलन के सिलसिले में सन् १६२१ के दिसम्बर और १६२२ के जनवरी महीनों में लगभग ३० हजार भारतवासी गिरफ्तार किये गये। किंतु यद्यपि अधिकांश प्रमुख नेता और कार्यकर्त्ता जेल में थे, सारे संघर्ष के नेता महात्मा गांधी अभी बाहर ही थे और दिन-प्रति-दिन संदेश तथा निर्देश देकर न केवल जनता को प्रेरित करते रहते थे, बल्कि उनके अनेक अनुचित कार्यों को रोकते भी रहते थे। सरकार ने अभी तक उन्हें स्पर्श नहीं किया था, क्योंकि उसे इस बात का भय था कि पता नहीं, इसका क्या परिणाम होगा और भारतीय फौज व पुलिस में इसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी।

फरवरी, १६२२, के आरम्भ में एकाएक सारा दृश्य बदल गया और हमने जेल में आश्चर्य और व्याकुलता के साथ सुना कि गांधीजी ने आंदोलन की आक्रमणकारी क्रियाएं बंद करवा दी हैं और सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित कर दिया है। हमने अखबारों में पढ़ा कि यह बात चौरीचौरा गांव के निकट घटी एक घटना के कारण की गई है, जहां कि गांववालों की एक भीड़ ने पुलिस से बदला लेने के लिए थाने में आग लगा दी थी और उसमें लगभग आधे दर्जन पुलिसमैनों को जला दिया था।

एक ऐसे समय में, जब कि हम अपना पैर जमाते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, संघर्ष के इस तरह बंद किये जाने का समाचार पढ़ कर हमें क्रोध आया। किंतु जेल में पड़े-पड़े हमारी निराशा और हमारे क्रोध से किसीको लाभ नहीं पहुंच सकता था। सत्याग्रह बंद होगया और असहयोग भी समाप्त हो गया। कई महीनों के तनाव और चिंता के बाद सरकार ने फिर आराम की सांस ली और उसे पहली बार कदम बढ़ाने का अवसर मिला। कुछ ही हफ्तों बाद गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक लम्बे अर्से के लिए जेल में डाल दिया गया।

मैं समझता हूं कि चौरीचौरा की घटना के बाद आंदोलन का इस प्रकार एकएक स्थगित किया जाना गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के प्रायः सभी प्रमुख नेताओं को बुरा लगा। मेरे पिता (जो उस समय जेल में थे) इससे बहुत ही विचलित हुए। नवयुवक लोग तो स्वभावतः और भी व्यग्र हुए। हमारी बढ़ती हुई आशाएं एकाएक भंग हो गईं। यह मानसिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। इससे भी अधिक दुःख हमें आंदोलन को स्थगित करने के लिए बताये गये कारणों और उनके फल-स्वरूप होने वाले परिणामों पर हुआ। सम्भव है कि चौरीचौरा की घटना निंदनीय रही हो, जैसी कि वह वस्तुतः थी। यह भी ठीक है कि वह घटना हमारे अहिंसात्मक आंदोलन के सिद्धांत के विरुद्ध थी, किंतु क्या हमारे राष्ट्र का

स्वतंत्रता-संग्राम एक दूर के गांव और एक अनजान स्थान के उत्तेजित किसानों की भीड़ के कारण बंद होने वाला था? यदि एक आकस्मिक अहिंसात्मक घटना का अनिवार्य परिणाम ऐसा होना था तो निश्चय ही हमारे अहिंसात्मक संग्राम के दर्शन और कला में कोई कमी थी, क्योंकि हमें ऐसा लगता था कि इस प्रकार की अनुचित घटनाओं की पुनरावृत्ति न होने देने की गारंटी करना असम्भव है। तो क्या हमारे लिए यह आवश्यक था कि आगे बढ़ने से पहले हम अपने देश के तीस करोड़ निवासियों को अहिंसा के सिद्धांत और अभ्यास की शिक्षा दें? और इतना होते हुए भी हममें से कितने आदमी यह कह सकते थे कि पुलिस द्वारा अतिशय उत्तेजित किये जाने पर भी वे पूरी तरह से शांत रह सकेंगे? और यदि हमें सफलता मिल भी जाती तो हम उत्तेजना फैलाने वाले उन एजेन्टों आदि के लिए क्या करते जो हमारे आंदोलन में घुस आये थे और या तो स्वयं हिंसात्मक कार्रवाइयां किया करते थे या दूसरों को ऐसा करने के लिए उकसाते थे। यदि अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली की एकमात्र शर्त यही है, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह सदा असफल रहेगी।

हमन अहिंसात्मक प्रणाली को अपना लिया था, कांग्रेस ने भी उसे अपनी कार्यप्रणाली के रूप में अंगीकार कर लिया था, क्योंकि हमें उसकी कार्यक्षमता में विश्वास था। गांधीजी ने उसे देश के सामने राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल उचित ही नहीं, बल्कि सबसे अधिक कारगर तरीके के रूप में रखा था। अपने नकारात्मक नाम के बावजूद वह एक विस्फोटक कार्य-प्रणाली थी—अत्याचारी की इच्छा के सामने नम्रतापूर्वक झुकने की क्रिया के बिलकुल विपरीत। वह किसी कायर की काम से बचने की युक्ति नहीं थी, बल्कि एक बहादुर की बुराई और राष्ट्रीय दासता से लड़ाई थी। किंतु बहादुरों और बलवानों से लाभ ही क्या यदि कुछ थोड़े से आदमी—हो सकता है कि मित्रों के वेश में वे हमारे शत्रु ही हों—अपने अविवेकपूर्ण आचार द्वारा हमारे आंदोलन को उलट या समाप्त कर देने की क्षमता रखते हों?

तलवार का सिद्धांत

अहिंसा और शांत असहयोग के तरीकों को अपनाने की अपील गांधीजी ने अपनी पूरी वाक्पटुता और प्रेरक शक्ति के साथ की थी, जिनकी कि उनमें बहुलता थी। उनकी भाषा सरल और अलंकारहीन थी, उनकी आवाज़ और उनकी आकृति शांत, स्पष्ट तथा भावुकता से शून्य थी, किंतु उस बाहरी शीतल आवरण के पीछे एक केन्द्रीभूत तीक्ष्ण आकांक्षा की आग धधक रही थी और जो शब्द उनके मुख से निकलते थे वे सीधे हमारे मस्तिष्क और हमारे हृदय के अन्तरतम कोने तक पहुंचकर वहां एक विचित्र हलचल पैदा कर देते थे। उन्होंने जो रास्ता दिखाया वह कठोर और कठिन था, किंतु वह एक बहादुरों का रास्ता था और ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमें स्वतंत्रता की उस भूमि तक पहुंचा देगा जिसकी कि हमसे प्रतिज्ञा की गई थी। उसी प्रतिज्ञा के कारण हमने उन पर विश्वास किया था और हम आगे बढ़े चले जा रहे थे। तलवार का सिद्धांत सम्बन्धी अपने एक प्रसिद्ध लेख में उन्होंने १६२० में लिखा था— "मेरा विश्वास है कि जब मेरे सामने केवल दो विकल्प रह जायंगे—कायरता और हिंसा—तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूंगा। इसके बजाय कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मैं यह पसन्द करूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार उठाये। किंतु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊंची है और क्षमादान दण्ड से अधिक वीरतापूर्ण है।

"क्षमा सिपाही की शोभा है, किंतु संयम क्षमा तभी बन सकता है जब अपने में दण्ड देने की शक्ति हो। उसका किसी असहाय व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित किया जाना निरर्थक है। जब एक चूहा अपने को बिल्ली से टुकड़े-टुकड़े करवा लेता है तो क्या यह उसकी क्षमाशीलता है? किंतु मैं भारत को या अपनेको असहाय नहीं मानता।.....

"आप मुझे गलत न समझिये। शक्ति शारीरिक सामर्थ्य से नहीं प्राप्त होती, वह एक अजेय संकल्प से उत्पन्न होती है।

"मैं स्वप्न नहीं देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी

होने का दावा करता हूं। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओं के लिए नहीं है। वह जनसाधारण के लिए भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओं का जीवन-सिद्धांत है, उसी तरह अहिंसा हम मानवों का। पशु में आत्मा सुप्त पड़ी रहती है और पशु शारीरिक बल के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं जानता। मनुष्य की मर्य्यादा के लिए एक उच्च नियम—आत्मिक शक्ति—के प्रति आज्ञाकारिता आवश्यक है।

"इसीलिए मैंने भारत के सामने आत्मत्याग का पुराना सिद्धांत रखने का साहस किया है। सत्याग्रह और उसकी शाखाएं—असहयोग व सविनय अवज्ञा—और कुछ नहीं, बल्कि कष्टसहन के नये नाम हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा के सिद्धांत का पता लगाया वे न्यूटन से भी अधिक प्रतिभा-सम्पन्न थे। वे वेलिंगटन से भी बड़े योद्धा था। शस्त्रों के प्रयोग को स्वयं जानकर भी उन्होंने उनकी निरर्थकता को समझा और इस थके हुए संसार को सिखाया कि मुक्ति हिंसा नहीं; बल्कि अहिंसा के द्वारा ही मिल सकती है।

"गतिमान अवस्था में अहिंसा का अर्थ स्वेच्छित कष्टसहन है। उसका अर्थ दुष्ट के सामने नम्रतापूर्वक घुटने टेकना नहीं। बल्कि अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपना तन-मन लगा देना है। जीवन के इस नियम के अनुसार कार्य करते हुए अकेला एक व्यक्ति अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की पूरी शक्ति का सामना कर सकता है और उस साम्राज्य के पतन या पुनरुद्धार की नींव रख सकता है।

"अतः मैं भारतवासियों से अहिंसा का अभ्यास करने की प्रार्थना इसलिए नहीं करता कि वे दुर्बल हैं। मैं चाहता हूं कि वे अपने बल और अधिकार की पूर्ण चेतनता के साथ अहिंसा का अभ्यास करें। . . . मैं चाहता हूं कि भारत इस बात को समझले कि उसके पास एक आत्मा है जो मर नहीं सकती, जो सब तरह की शारीरिक दुर्बलताओं पर विजयी हो सकती है और पूरे संसार के शारीरिक संगठन का विरोध कर सकती है।...

"मैं इस असहयोग को शिन फ़ैनवाद से अलग समझता हूं, क्योंकि इसकी कल्पना कुछ इस ढंग से की गई है कि यह हिंसा के साथ-साथ प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। किंतु मैं तो हिंसावादियों को भी एक बार अहिंसात्मक असहयोग की परीक्षा करने का निमंत्रण देता हूं। अहिंसात्मक असहयोग अपनी किसी आंतरिक दुर्बलता के कारण असफल नहीं हो सकता, यह केवल लोगों का समर्थन न प्राप्त होने के कारण असफल हो सकता है। असली खतरे का समय वही होगा। उच्च आत्मा वाले लोग, जो राष्ट्रीय अपमान को अब और सहने में असमर्थ हैं, अपना क्रोध निकालना चाहेंगे। वे हिंसा का अनुगमन करेंगे। जहां तक मैं जानता हूं ऐसे लोग अपनेको या अपने देश को अन्याय से मुक्त कराये बिना ही नष्ट हो जायंगे। सम्भव है कि भारत तलवार के सिद्धांत को अपना कर क्षणिक विजय प्राप्त कर सके। किंतु तब भारत वह भारत नहीं रह जायेगा जिस पर मैं गर्व कर सकूं। भारत से मेरा संबंध इसलिए है कि मुझे सब कुछ उसीसे मिला है। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि उसे सारे संसार को एक संदेश देना है।"

अहिंसा एक प्रणाली के रूप में

इन तर्कों ने हमें प्रभावित तो किया, किंतु अहिंसा हमारे लिए और सम्पूर्ण रूप से कांग्रेस के लिए कोई धर्म या कोई निर्विवाद मत या सिद्धांत नहीं थी और न हो सकती थी। वह हमारे लिए एक नीति, एक तरीका, भर हो सकती थी, जिससे हम कुछ परिणामों की आशा रख सकते थे। इन्हीं परिणामों की कसौटी पर उसे अंतिम रूप से कसना भी होगा। अलग-अलग लोग इसे धर्म या अविवादित मत का रूप दे सकते हैं, किंतु कोई भी राजनैतिक संस्था, जब तक कि उसका रूप राजनैतिक रहता है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा की घटना और उसके परिणामों ने हमें अहिंसा पर एक प्रणाली के रूप में सोचने के लिए विवश किया और हमने महसूस किया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो तर्क

किया है वह अगर ठीक है तो हमारे विरोधियों के हाथ में सदा ऐसी स्थिति उत्पन्न करने की शक्ति बनी रहेगी जिससे कि वे हमें अपने संघर्ष को स्थगित करने के लिए बाध्य कर सकें। यह दोष अहिंसात्मक प्रणाली का था या गांधीजी द्वारा की गई उसकी व्याख्या का ? आखिर वही तो इसके जन्मदाता थे ! फिर उनसे ज्यादा कौन इस बात को समझ सकता था कि यह आंदोलन क्या है और क्या नहीं ? और उनके बिना हमारे आंदोलन में रखा ही क्या था !

मैं हड़ताल के लिए पर्चे बांटने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। उस समय यह कोई कानूनी अपराध नहीं था, गोकि मैं समझता हूं कि अब हो गया है, क्योंकि हम औपनिवेशिक स्वराज की ओर बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहे हैं। कुछ भी हो, मुझे कैद की सजा मिली। तीन महीने बाद जेल में, जहां मेरे पिताजी और दूसरे लोग भी थे, मुझे बताया गया कि मेरे दण्ड पर पुनः विचार करने वाला कोई अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि मैं गलती से गिरफ्तार कर लिया गया था अतः छोड़ दिया जाऊंगा। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी ओर से किसीने कोई पैरवी नहीं की थी। साफ मालूम होता था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगित होने से संशोधक जज एकाएक क्रियाशील हो उठे हैं। अपने पिताजी को वहीं जेल में छोड़कर जाने में मुझे बड़ा दुःख हुआ।

मैंने फौरन ही गांधीजी के पास अहमदाबाद जाने का निश्चय किया, किंतु मेरे वहां पहुंचने से पहले ही वे गिरफ़्तार कर लिये गये थे और मेरी उनकी मुलाकात साबरमती जेल में हुई। जिस समय उन पर मुकदमा चल रहा था, मैं भी वहां मौजूद था। वह एक स्मरणीय अवसर था और हममें से जो लोग वहां उपस्थित थे वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। जज ने, जो कि एक अंग्रेज था, बड़ी मर्य्यादा और सहानुभूति के साथ व्यवहार किया। गांधीजी ने अदालत में जो बयान दिया उसने सबको हिला दिया और जब हम वहांसे लौटे तो हमारे हृदय का एक-एक तार कम्पित हो रहा था, हमारे कानों में उनके स्पष्ट और सजीव शब्द गंज रहे थे और हमारी

आंखों के सामने वहांके दृश्य के अनेक उल्लेखनीय चित्र नाच रहे थे ।

बीमारी और रिहाई

सन् १९२४ के आरम्भ में एकाएक खबर मिली कि गांधीजी जेल में सख्त बीमार होगए हैं । बाद में मालूम हुआ कि वह अस्पताल भेज दिये गए हैं और वहां उनका आपरेशन हुआ है । सारा भारत चिंता में डूब गया और हम भयभीत-से सांस रोके प्रतीक्षा करते रहे । अंत में संकट टल गया और देश के कोने-कोने से लोग गांधीजी को देखने के लिए पूना की ओर टूट पड़े । उस समय भी वह अस्पताल में ही थे और उन पर पहरा बैठा हुआ था, किंतु उन्हें थोड़े-बहुत मित्रों से मिलने की अनुमति मिल गई थी । पिताजी और मैंने उनसे वहीं अस्पताल में भेंट की ।

अस्पताल से वह जेल वापस नहीं भेजे गये । अभी वह अच्छे हो ही रहे थे कि सरकार ने उनकी कैद की बची हुई मियाद छोड़ दी और वह रिहा कर दिये गये । उस समय तक वह ६ वर्ष में से लगभग २ वर्ष की सजा काट चुके थे । स्वास्थ्य-लाभ के लिए वह बम्बई के पास समुद्र पर जुहू चले गये ।

हमारा परिवार भी जुहू जा धमका और वहां हम समुद्र के किनारे एक छोटे-से तम्बू में जम गये । वहां कई सप्ताह तक रहे और मुझे एक लम्बे अर्से के बाद मनमाने ढंग से छुट्टी मनाने का अवसर मिला, क्योंकि वहां मैं समुद्र में तैर सकता था और तट पर दौड़ तथा सवारी कर सकता था । किंतु हमारे वहां ठहरने का मुख्य अभिप्राय छुट्टी मनाना नहीं, बल्कि गांधीजी से विचार-विनिमय करना था । पिताजी ने उन्हें स्वराज पार्टी का दृष्टिकोण समझाना चाहा और उसके लिए अगर उनकी सक्रिय सहानुभूति नहीं तो कम-से-कम विरोधहीन सहयोग अवश्य प्राप्त करना चाहा । मैं भी अपनेको परेशान करने वाली कुछ समस्याओं पर प्रकाश डलवाने के लिए चिंतित था । मैं यह जानना चाहता था कि गांधीजी का भावी कार्यक्रम क्या होगा ?

जुहू की वार्त्ता गांधीजी को स्वराजवादियों के पक्ष में खींचने या उन्हें उस दिशा में कण मात्र भी आकर्षित करने में सफल न हो सकी। मैत्रीपूर्ण वार्त्ता और भद्रतापूर्ण सद्भावना-प्रदर्शन के बाद भी असलियत यही रही कि समझौता नहीं हो सका। उनमें मतभेद बना रहा और इस संबंध में समाचारपत्रों में वक्तव्य भी प्रकाशित करा दिये गए।

जुहू से मैं भी कुछ निराश होकर ही लौटा, क्योंकि गांधीजी ने मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं किया। जैसा कि वह साधारणतः किया करते हैं, उन्होंने भविष्य की चिंता करने या कोई दूरस्थ कार्यक्रम बनाने से इन्कार कर दिया।

गांधीजी जब से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुए हैं, जनता की दृष्टि में उनकी लोकप्रियता कभी घटी नहीं है। इसके विपरीत वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही रही है और यह क्रम अब भी जारी है। हो सकता है कि जनता उनकी इच्छाओं के अनुसार कार्य न करती हो, क्योंकि मनुष्य अक्सर दुर्बल स्वभाव का होता है; फिर भी उसका हृदय उनके प्रति सद्भावना से ओतप्रोत है। जब कभी उसकी निजी अवस्था अनुकूल होती है तभी वह बड़े-बड़े सामूहिक आंदोलन ले खड़ी होती है, नहीं तो चुपचाप दबी पड़ी रहती है। कोई भी नेता जादूगर का डंडा घुमाकर शून्य में से जन-आंदोलन की उत्पत्ति नहीं कर सकता। जब जनता जाग्रत हो तभी नेता भी उसकी अवस्था से लाभ उठा सकता है। वह उसे तैयार कर सकता है, उत्पन्न नहीं कर सकता।

पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। आगे बढ़ने का उत्साह जागने पर वे उनके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं, किंतु जब इस उत्साह की अनिवार्य प्रतिक्रिया होती है तो वे टीका-टिप्पणी करने लगते हैं। इतने पर भी उनमें से अधिकांश लोग उनके आगे सिर झुकाते हैं। इसका एक कारण यह है कि उनके सामने कोई दूसरा कारगर कार्यक्रम नहीं है। उदार दलवालों और उनसे मिलते-जुलते दूसरे दलों की कोई बिसात नहीं; आधुनिक युग में आतंकवादी हिंसा में विश्वास करनेवालों

का भी कोई स्थान नहीं; वे बेकार और पिछड़े हुए समझे जाते हैं। जहां तक समाजवाद का सवाल है, उसे अभी बहुत कम लोग जानते हैं और उससे कांग्रेस के उच्च श्रेणी के सदस्य भय खाते हैं।

मोतीलाल नेहरू

सन् १९२४ के मध्य में कुछ दिनों के राजनैतिक मतभेद के बाद मेरे पिताजी और गांधीजी में फिर पुराने संबंध स्थापित होगए और बढ़ते-बढ़ते पहले से भी अधिक घनिष्ठ होगए। उनमें चाहे कितना भी मतभेद क्यों न रहा हो, उनके मन में एक-दूसरे के लिए अधिक-से-अधिक आदर था। आख़िर वह कौन-सी बात थी, जिसका वे इतना आदर करते थे? 'विचारधाराएं' शीर्षक पुस्तक में, जो गांधीजी के कुछ चुने हुए लेखों का संग्रह है, मेरे पिताजी ने एक छोटी-सी भूमिका लिखते हुए अपने मन की बातों का थोड़ा-सा आभास दिया है। उन्होंने लिखा है—"साधु-संतों और दैवी पुरुषों की बात तो मैंने सुनी है, किंतु उनसे मिलने का सौभाग्य कभी नहीं मिला। मैं यह स्वीकार करना चाहता हूं कि मुझे इस प्रकार के प्राणियों की वास्तविक विद्यमानता में शंका है। मैं मनुष्यों और मानवोचित बातों में विश्वास करता हूं। जो विचारधाराएं इस पुस्तक में सुरक्षित की गई हैं वे एक मनुष्य से प्रवाहित हुई हैं और मनुष्योचित हैं। उनमें मानुषिक स्वभाव के दो महान् गुण दिखाई देते हैं—विश्वास और बल।...

"आख़िर इस सब का क्या नतीजा निकलेगा? यह एक ऐसे व्यक्ति का प्रश्न है जिसमें न विश्वास है, न बल। 'विजय या मृत्यु'—यह उत्तर उसके मन को नहीं भाता। . . . उधर वह विनीत और कृश-काय व्यक्ति दृढ़ विश्वास और अजेय बल के शक्तिशाली आधार पर डटकर खड़ा होकर अब भी अपने देशवासियों को मातृभूमि के लिए त्याग करने और कष्ट सहने का संदेश दे रहा है। वह संदेश लाखों के हृदय में गूंज उठता है। . . ."

और अंत में उन्होंने स्विनबर्न की ये पंक्तियां उद्धृत की हैं—

"क्या हमारे साथ कोई राजसी आदमी नहीं—ऐसे आदमी, जिनका परिस्थिति पर काबू हो ?"

स्पष्ट है कि पिताजी इस बात पर जोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी का संत या महात्मा नहीं, बल्कि मनुष्य के रूप में आदर करते हैं। स्वयं दृढ़-संकल्पी होने के कारण वह गांधीजी के आत्मिक बल की प्रशंसा करते थे। स्पष्ट दिखाई देता है कि कृश शरीरवाले उस छोटे-से आदमी के भीतर कोई चीज इस्पात की बनी हुई है, कोई चीज चट्टान-जैसी है, जो प्रबल-से-प्रबल शारीरिक शक्ति के सामने नहीं झुकती। अपनी प्रभावहीन आकृति, अपनी छोटी धोती और अपने नंगे शरीर के बावजूद उसमें एक राजसीपन था जिसके सामने सभी लोग स्वेच्छा से सिर झुकाते थे। वह जानबूझ कर नम्र और विनीत बना रहता था, फिर भी उसमें बल और अधिकार था। इस स्थिति से वह पूर्णतः भिज्ञ था और कभी-कभी तो एक सम्राट् की तरह आदेश भी दिया करता था जिसका पालन करना अनिवार्य था। उसकी शांत गहरी आंखें लोगों को अपनी ओर खींच लेती थीं और धीरे-धीरे उनके अन्तःप्रदेश में प्रवेश कर जाती थीं। उसकी साफ और निर्मल वाणी लोगों के हृदय को छू जाती थी और उनमें भावुकतापूर्ण समर्थन की भावना जाग्रत कर देती थी। उसके श्रोताओं की संख्या एक हो चाहे असंख्य, उसका आकर्षण उन तक पहुंच ही जाता था और प्रत्येक के हृदय में उसके प्रति आत्मिक सम्पर्क की भावना जाग्रत हो जाती थी। इस भावना का मस्तिष्क से बहुत ही कम संबंध था, क्योंकि गांधीजी लोगों के मस्तिष्क को भी आकर्षित करने की आवश्यकता की बिलकुल अवहेलना नहीं करते थे। किंतु निश्चय ही उनकी दृष्टि में मस्तिष्क और तर्क का स्थान गौण था। लोगों को मुग्ध करने का यह काम किसी वाक्पटुता अथवा लच्छेदार शब्दों द्वारा नहीं होता था। गांधीजी की भाषा सदा सरल और विषयसंगत होती थी। किसी अनावश्यक शब्द का प्रयोग वह शायद ही कभी करते हों। लोगों को जो वस्तु जकड़ लेती थी वह थी गांधीजी की अतिशय सचाई और उनका व्यक्तित्व। उन्हें देख

और सुनकर ऐसा लगता था जैसे उनके भीतर प्रबल शक्ति का एक अनन्त सागर लहरा रहा है। शायद उनके चारों तरफ एक ऐसी परम्परा खड़ी होगई थी जो अनुकूल वातावरण को जन्म देने में सहायक होती थी। सम्भव था कि इस परम्परा से अनभिज्ञ और वातावरण से सामंजस्य न रखनेवाले किसी अजनबी पर उनकी मोहिनी का बिलकुल या इतना प्रभाव न पड़ता। फिर भी गांधीजी का एक बहुत बड़ा गुण यह था और है कि वह अपने विरोधियों को जीत लेते हैं या कम-से-कम उन्हें निश्शस्त्र कर देते हैं।

गांधीजी को मनुष्य द्वारा बनाई गई चीजों में बहुत ही कम सुन्दरता या कला दिखाई देती थी। उनकी दृष्टि में ताजमहल और कुछ नहीं, बल्कि जबरदस्ती कराई गई मेहनत का प्रतीक मात्र था। उनकी सूंघने की शक्ति भी दुर्बल थी। फिर भी उन्होंने अपने ढंग पर जीवन की कला का पता लगा लिया था और अपने जीवन को कलामय बना लिया था। उनके प्रत्येक इंगित में एक अर्थ और एक शोभा थी और असत्य तो उसे छू भी नहीं गया था। उनके व्यवहार में कोई खुरदरापन या तीक्ष्णता नहीं थी। उनमें उस भद्देपन का भी अभाव था जो दुर्भाग्यवश हमारे मध्यम श्रेणी के लोगों का एक विशेष गुण है। स्वयं आंतरिक शांति प्राप्त कर लेने के बाद उसे उन्होंने औरों तक पहुंचाया और जीवन के कष्टजनित मार्गों पर वह दृढ़ता और निर्भयता के साथ बढ़ते रहे।

उनमें और मेरे पिताजी में कितना अंतर था ! किंतु मेरे पिताजी में भी व्यक्तित्व का बल और एक प्रकार का राजसीपन था। स्विनबर्न की जो पंक्तियां उन्होंने गांधीजी के लिए उद्धृत की थीं उनका प्रयोग स्वयं उनके लिए भी हो सकता था। जिस किसी सभा में वह भाग लेते थे, जनता के आकर्षण के केन्द्र बन जाते थे। टेबल पर जिस जगह भी वह बैठते थे वही जगह, जैसा कि बाद में एक प्रसिद्ध अंग्रेज जज ने कहा था, मुख्य अतिथि की जगह बन जाती थी। वह न तो विनीत थे, न नम्र, और न ही गांधीजी की तरह अपने से मतभेद रखनेवालों को छोड़ देते थे। उनकी यह राजसी प्रवृत्ति ऐसी नहीं थी जिसका उन्हें स्वयं ज्ञान हो।

बहुत-से लोग उनके कट्टर आज्ञाकारी और बहुत-से कट्टर विरोधी थे। उनके प्रति तटस्थ रहना असम्भव था। उन्हें या तो पसन्द किया जा सकता था, या नापसन्द। उनका माथा चौड़ा, होंठ कसे हुए और ठोढ़ी दृढ़ता की सूचक थी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो ऊपरी धड़ की मूर्त्तियां रखी हुई हैं, उनसे वह बहुत मिलते-जुलते थे। इटली के बहुत-से मित्रों ने, जिन्होंने हमारे पास उनका चित्र देखा, इस सादृश्य का उल्लेख किया। ख़ास तौर से बाद की उम्र में जब उनके बाल सफ़ेद हो गये थे —मेरी तरह उन्होंने अपने बाल कटवाये नहीं थे——उनमें एक तेज और शाही ढंग था जो आजकल के संसार में ढूंढ़े नहीं मिलता। मैं समझता हूं कि मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूं, किंतु क्षुद्रता और दुर्बलता से भरे हुए इस संसार में मुझे उनकी उत्कर्षकारी उपस्थिति का अभाव बड़ा अखरता है। आज मैं उनके उस शाही ढंग और अपूर्व बल को निरर्थक ही ढूंढ़ने का प्रयत्न करता हूं।

मुझे याद है कि कभी सन् १९२४ में मैंने पिताजी की एक तस्वीर गांधीजी को दिखाई थी। उन दिनों उनकी स्वराज पार्टी से खींचातानी चल रही थी। इस चित्र में पिताजी के मूंछ नहीं थी और उस समय तक गांधीजी ने उन्हें सदा शानदार मूंछ के साथ देखा था। उस चित्र को देखकर वह जैसे चौंक-से पड़े और उसे बड़ी देर तक आंख गड़ाये देखते रहे, क्योंकि मूंछ के हट जाने से पिताजी के मुंह और ठोढ़ी की कठोरता दिखाई देने लगी थी। गांधीजी ने कुछ-कुछ रूखी हंसी के साथ कहा कि अब पता चला कि मुझे किससे लोहा लेना है। फिर भी आंखों और बराबर हंसने से पड़ी हुई रेखाओं के कारण उनका चेहरा कुछ मुलायम दिखाई देता था। किंतु कभी-कभी वे आंखें चमक उठती थीं।

दिसम्बर, १९२४ में कांग्रेस का अधिवेशन बेलगांव में हुआ जिसके अध्यक्ष गांधीजी थे। गांधीजी का कांग्रेस का अध्यक्ष बनना एक प्रकार से उच्चतम स्तर पर पहुंच कर नीचे उतरना था, क्योंकि वह तो स्थायी रूप से उसके महाध्यक्ष थे।

३

कुछ वर्ष के लिए खादी का प्रचार ही गांधीजी का मुख्य कार्य रहा था और इस उद्देश्य से उन्होंने सारे देश में दूर-दूर तक दौरा किया था। उन्होंने हर प्रांत को एक-एक करके लिया था और वह हर जिले के हर शहर और दूर-दूर के देहातों तक में गये थे। सब जगह उन्हें देखने और सुनने के लिए विशाल जन-समुदाय उमड़ पड़ता था और उनके कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कार्यकर्त्ताओं को पहले से ही बहुत काम करना पड़ता था। इस तरह उन्होंने भारत का कई बार दौरा किया है और इस विशाल देश के कोने-कोने को—उत्तर से लेकर सुदूर दक्षिण तक और पूर्वी पर्वतों से लेकर पश्चिमी सागर तक—जान लिया है। मैं समझता हूं कि भारत में जितना भ्रमण उन्होंने किया है उतना किसी और ने कभी नहीं किया।

पूर्व काल में बहुत बड़े-बड़े यात्री होते थे जो सदा चलते ही रहते थे। उनमें यात्रा की एक प्रकार की लालसा-सी लगी रहती थी; किंतु उनके आवागमन का साधन बड़ा धीमा था और जितना रेल और मोटर से एक साल में भ्रमण किया जा सकता है उतना वे जीवन भर में भी शायद ही कर पाते थे। गांधीजी रेल और मोटर से भ्रमण किया करते थे, किंतु उनकी यात्रा इन्हीं तक सीमित नहीं थी। वह पैदल भी चला करते थे। इस रीति से उन्होंने भारत और भारतीय जनता के संबंध में अनोखा ज्ञान प्राप्त कर लिया और इसी रीति से भारत के करोड़ों लोग उनसे मिले और उनके घनिष्ट सम्पर्क में आये।

खादी-यात्रा

सन् १९२९ में गांधीजी अपनी खादी-यात्रा पर युक्तप्रांत आये और साल के उस सबसे गरम मौसम में वहां कई हफ्ते ठहरे। थोड़े-थोड़े दिनों के लिए मैं उनके साथ कई बार रहा और यद्यपि मेरे लिए यह कोई नया अनुभव नहीं था तथापि मैं उन बड़ी-बड़ी भीड़ों को देखकर चकित रह जाता था जो उन्हें सुनने के लिए सब जगह उमड़ पड़ती थीं। यह बात विशेषरूप से गोरखपुर आदि पूर्वी जिलों में दिखाई देती थी, जहां विशाल जनसमूहों को देखकर टिड्डी-दल का स्मरण हो आता था। देहातों में मोटर से जाते समय हमें रास्ते में हर पांच मील पर दस से लेकर पच्चीस हज़ार आदमियों तक की भीड़ मिलती थी और उस दिन की मुख्य सभा में तो उनकी गिनती लाख से भी ऊपर चली जाती थी। उन दिनों लाउड-स्पीकरों की सुविधा नहीं थी, सिवा इसके कि कभी-कभी किसी बड़े शहर में इनका प्रबंध हो जाता था। इसलिए इतनी बड़ी-बड़ी भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति के पास तक आवाज़ का पहुंचना बिलकुल असम्भव था। शायद जनता कुछ सुनने की आशा भी नहीं रखती थी; वह महात्माजी को देखकर ही संतुष्ट हो जाती थी। अक्सर गांधीजी बहुत ही संक्षेप में बोला करते थे और अपने को अनावश्यक श्रम से बचाते थे, नहीं तो हर दिन और हर घंटे इस तरह काम करना कैसे सम्भव हो सकता था?

मैं गांधीजी के साथ सब जगह नहीं गया, क्योंकि न तो मैं उनके लिए कुछ विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता था और न उनके साथ चलने-वाले लोगों की संख्या को बढ़ाने में ही कोई तथ्य था। वैसे मैं भीड़ से घब-राता नहीं था, लेकिन कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके लिए मैं अपने को धक्कमधक्का में फंसाता और अपने पैरों को कुचलवाता जैसा कि गांधीजी के साथ चलने वाले लोगों के भाग्य में बदा होता है। मुझे बहुत-सा दूसरा काम भी करना था और मैं अपने को खादी-प्रचार के ही काम तक सीमित नहीं रखना चाहता था, क्योंकि देश की बढ़ती हुई राजनैतिक स्थिति को देखते हुए वह मुझे अपेक्षाकृत गौण मालूम पड़ता था। कुछ हद तक मुझे

गांधीजी का अपने को अराजनैतिक समस्याओं में उलझाये रखना बुरा मालूम देता था और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि को कभी नहीं समझ पाता था। उन दिनों वह खादी के काम के लिए रुपया इकट्ठा कर रहे थे और अक्सर कहते थे कि मुझे दरिद्रनारायण के लिए रुपया चाहिए। 'दरिद्रनारायण' का अर्थ है दरिद्रों का नारायण अर्थात् वह नारायण जो दरिद्रों में बसता है। शायद इससे उनका मतलब यह था कि वह ग़रीबों को घरेलू उद्योगधन्धों में लगाकर उनकी बेकारी को दूर करने में सहायता देना चाहते थे। किंतु उनके 'दरिद्रनारायण' शब्द के प्रयोग में एक प्रकार से दरिद्रता की महत्ता झलका करती थी। वह कहा करते थे कि ईश्वर विशेषरूप से दरिद्रों का नारायण है, दरिद्र उसके प्रिय व्यक्ति हैं। मैं समझता हूं कि इस संबंध में सब जगह यही धार्मिक भावना है। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि दरिद्रता मुझे एक घृणित वस्तु मालूम होती थी, जिसे किसी भी रूप में प्रोत्साहन देने की नहीं, बल्कि लड़कर जड़ से उखाड़ फेंकने की आवश्यकता थी। इसके लिए स्वभावतः उस सामाजिक पद्धति पर कुठाराघात करना आवश्यक था, जो न केवल ग़रीबी को सहन करती है, बल्कि उसे उत्पन्न भी करती है। जो लोग इस काम से बचते थे वे किसी-न-किसी रूप में निर्धनता का समर्थन अवश्य करते थे। वे केवल अभाव की बात सोच सकते थे और जीवन के समस्त आवश्यक पदार्थों से सम्पन्न संसार की कल्पना नहीं कर सकते थे। शायद उनके मत के अनुसार इस संसार में गरीब और अमीर सदा रहेंगे।

जब कभी इस विषय पर मेरी गांधीजी से बातचीत होती थी वह इस बात पर जोर देते थे कि धनवानों को अपने धन को ग़रीबों की थाती समझना चाहिए। यह एक बहुत ही पुराना दृष्टिकोण था और हम इसे अक्सर भारत में और मध्यकालीन यूरोप में भी पाते हैं।

स्वतन्त्रता-दिवस

२६ जनवरी, १९३० को स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया और

उसने मानो बिजली की चमक की तरह हमें देश की सचाई और उत्साहपूर्ण मनोस्थिति का दर्शन करा दिया। जगह-जगह बड़ी-बड़ी भीड़ों का जमा होना और उनमें भाषण या जनता के उद्बोधन के बजाय शांति और सौम्यता के साथ स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का लिया जाना—यह सब अधिक प्रभावोत्पादक था। इससे गांधीजी को आवश्यक प्रोत्साहन मिला और उन्होंने जनता की नब्ज पर हाथ रखने की अपनी चतुरता से समझ लिया कि अब काम करने का समय आगया है। इसके पश्चात् एक के बाद दूसरी घटना बड़ी तेजी से घटी—ठीक वैसे ही जैसे एक नाटक की घटनाएं चरमांत की ओर बढ़ती हैं।

जैसे-जैसे सविनय अवज्ञा के दिन पास आते गये और वातावरण में एक बिजली-सी व्याप्त होती गई वैसे-वैसे हमारा ध्यान सन् १९२१-२२ के आंदोलन और चौरीचौरा की घटना के बाद उसके सहसा स्थगित होने की ओर जाता रहा। देशवासी अब पहले से अधिक अनुशासन सीख गये थे और संघर्ष की रूपरेखा को अधिक स्पष्ट रूप से समझने लगे थे। उसकी कला भी अब कुछ-कुछ समझ में आने लगी थी, किंतु गांधीजी के दृष्टिकोण से इससे भी बड़ी बात यह थी कि हर आदमी पूरी तरह से समझ गया था कि अहिंसा के लिए गांधीजी के हृदय में एक जबरदस्त सचाई और लगन है। इस संबंध में अब किसीको सन्देह नहीं रह गया जैसा कि दस साल पहले कुछ लोगों को था। इतने पर भी हमें यह निश्चय कैसे हो सकता था कि कहीं एकाएक या किसी षड्यंत्र के फलस्वरूप, अहिंसा नहीं फूट पड़ेगी? और यदि ऐसी कोई घटना हुई तो उसका हमारे आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या पहले की तरह वह इस बार भी सहसा बंद कर दिया जायेगा? यह संभावना सबसे ज्यादा घबराहट पैदा कर रही थी।

गांधीजी ने शायद इस प्रश्न पर भी अपने ढंग से विचार कर लिया था; लेकिन जिस समस्या से उन्हें परेशानी थी—जैसा कि मैं उनसे इधर-उधर की बातों में समझ पाया था—उसे उन्होंने कुछ और ही रूप में रखा।

उनकी समझ में देश की स्थिति को सुधारने का एकमात्र ठीक तरीका अहिंसा का तरीका था और यदि उसका उचित रूप से पालन किया जाय तो वह एक अचूक तरीका था। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस पद्धति की क्रिया और सफलता के लिए विशेष अनुकूल परिस्थिति प्रयोजनीय है और बाहरी स्थितियों के अनुकूल न होने पर उसकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अहिंसात्मक पद्धति सब परिस्थितियों के लिए नहीं है और इसलिए न तो विश्वव्यापी है न अचूक। यह निष्कर्ष गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा की पद्धति एक सर्वव्यापी और अचूक पद्धति है और इसलिए बाह्य परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी, यहां तक झगड़े और हिंसा के समय भी, उसका अवश्य प्रयोग होना चाहिए। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार उसकी कार्य-रीति में तो परिवर्तन किया जा सकता है, किंतु उसे बंद करना उसकी असफलता को स्वीकार करना है।

शायद वह कुछ ऐसे ही ढंग पर विचार किया करते थे, किंतु मैं उनके विचारों के संबंध में कुछ निश्चित रूप में नहीं कह सकता। उनकी बातों से हमें लगता तो यही था कि उनकी विचारधारा में कुछ-कुछ परिवर्तन आगया है और सविनय अवज्ञा के आरम्भ हो जाने पर उसे किसी आकस्मिक हिंसावृत्ति के कारण बंद करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; किंतु अगर हिंसा किसी रूप में आंदोलन का ही अंग बन जाय तो निस्संदेह वह आंदोलन एक शांतिपूर्ण आंदोलन नहीं रह जायगा और उसकी कार्रवाइयों को कम करना या बदलना होगा। गांधीजी के इस आश्वासन ने हममें से बहुतों को काफी संतुष्ट कर दिया।

अब जो बड़ा सवाल हमारे सामने रह गया था, वह था आरम्भ कैसे किया जाय? सविनय अवज्ञा को किस रूप में ग्रहण किया जाय कि वह कारगर, परिस्थितियों के अनुकूल और जनता को प्रिय सिद्ध हो? और तब महात्माजी ने संकेत किया।

एकाएक नमक एक रहस्यपूर्ण, एक बलवान शब्द बन गया। नमक-कर पर आघात करने और नमक कानून को तोड़ने का निश्चय किया गया। इससे हम चकित रह गये और एक राष्ट्रीय आंदोलन का साधारण नमक से ठीक-ठीक मेल नहीं बैठा सके। दूसरी आश्चर्यजनक घटना गांधीजी की 'ग्यारह सूत्रों' की घोषणा थी। जब हम स्वतंत्रता की बातें कर रहे थे तो थोड़े-से राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की सूची बनाने का क्या मतलब था, चाहे वे सुधार अच्छे ही क्यों न थे? क्या इस शब्द का प्रयोग करते समय गांधीजी का भी वही मतलब हुआ करता था जो हमारा? या हमारा कुछ और अभिप्राय था? बहस करने के लिए समय नहीं था, क्योंकि घटनाओं का क्रम आरम्भ हो गया था। भारत में तो वे हमारी आंखों के सामने ही राजनैतिक रूप धारण कर दिन-पर-दिन आगे बढ़ रही थीं और भारत से बाहर संसार के अन्य देशों में भी तेजी से बढ़ रही थीं और उसे एक भयंकर आर्थिक संकट के जाल में कसती जा रही थीं, यद्यपि इस बात को हम उस समय समझ नहीं पाये थे। कीमतें गिर रही थीं, शहरवाले अतिशय लाभ का संकेत समझकर प्रसन्न हो रहे थे, किंतु किसान और आसामी उसे घबराहट के साथ देख रहे थे।

डांडी-कूच

इसके बाद गांधीजी की वाइसराय से लिखा-पढ़ी हुई और नमक का कानून भंग करने के लिए साबरमती आश्रम से डांडी की तरफ कूच आरम्भ हुआ। जैसे-जैसे आगे बढ़ते हुए इस यात्री-दल के रोज-रोज के समाचार आते रहे, वैसे-वैसे देश में उत्तेजना फैलती गई। संघर्ष अब बिलकुल समीप आगया था और उसके अंतिम प्रबंध करने के लिए अहमदाबाद में कांग्रेस महासमिति की एक बैठक की गई। संघर्ष का नेता उसमें मौजूद नहीं था, क्योंकि उस समय वह यात्रियों के एक जत्थे के साथ समुद्र की ओर बढ़ रहा था।

अंतिम तैयारी करने के बाद कांग्रेस महासमिति के सदस्यों ने अहमदाबाद में एक दूसरे से अलविदा की, क्योंकि किसीको पता नहीं था कि आगे हम कब और कैसे मिलेंगे और कभी मिलेंगे भी या नहीं। कांग्रेस महासमिति के नये निर्देशों के अनुसार स्थानीय तैयारियों को अंतिम रूप देने के लिए और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के निमित्त अपने दांत साफ करने के ब्रुशों को तैयार रखने के लिए, हम जल्दी-जल्दी अपने-अपने ठिकानों को भागे।

लौटते समय मैं और पिताजी गांधीजी से मिलने गये। उस समय वह अपने जत्थे के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घंटे रहे, जिसके बाद वह दलबल सहित खारे समुद्र की यात्रा के अगले पड़ाव की ओर चल दिये। उस रूप में मेरे लिए उनकी वह अंतिम झलक थी—हाथ में डंडा लिये वह अपने अनुयायियों के आगे-आगे मजबूत कदम और शांतिपूर्ण किंतु निश्चल दृष्टि से चल रहे थे। निश्चय ही वह हृदय को हिला देने वाला दृश्य था।

सन् १९१९ की घटनाओं की याद में हर साल (सत्याग्रह-दिवस से जालियांवाला बाग दिवस तक का) जो राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है उसकी पहली तारीख छः अप्रैल थी। उसी दिन गांधीजी ने डांडी के समुद्र-तट पर नमक-कानून को भंग करना आरम्भ किया और तीन या चार दिन बाद सभी कांग्रेसी संस्थाओं को ऐसा ही करने और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय अवज्ञा आरम्भ करने को अनुमति दे दी गई।

ऐसा मालम होता था मानो सहसा बसंत छा गया। देश के शहर-शहर और गांव-गांव में नमक बनाने की चर्चा थी और नमक तैयार करने के लिए बड़े-बड़े विचित्र तरीके काम में लाये जा रहे थे। इस संबंध में हम जानते तो बहुत ही कम थे, इसलिए जहांसे सम्भव होता था वहींसे कुछ पढ़-पढ़ाकर पर्चे बांट-बांट कर हिदायतें देते थे। हम बर्त्तन और कड़ाहे इकट्ठ करते थे और अंत में थोड़ा-बहुत नमक तैयार कर ही लेते थे। उसीको हम विजय के उन्माद में उठाये फिरते थे और ऊंचे-ऊंचे दामों पर

नीलाम कर देते थे। चीज़ अच्छी तैयार होती या बुरी, इसका कोई सवाल नहीं था। असली काम मनहूस नमक-कर को तोड़ना था और इस कार्य में हमें सफलता मिली, चाहे हमारे द्वारा तैयार किया गया नमक निम्न कोटि का ही क्यों न था। जब हमने देखा कि जनता में अगाध उत्साह है और नमक बनाने का काम घास की आग की तरह फैलता जा रहा है तो हमें इस बात पर लज्जा आई कि जब गांधीजी ने पहले-पहल नमक बना कर नमक-कानून को भंग करने का प्रस्ताव रखा था तो हमने उसकी कार्यक्षमता पर शंका प्रकट की थी। आज हम उनके जनता को प्रभावित करने और उससे संगठित रूप में काम कराने के आश्चर्यजनक कौशल को देखकर स्तम्भित रह गये।

सन् १९३० का वह साल नाटकीय स्थितियों और जोश दिलाने वाली घटनाओं से भरा हुआ था। हमें सबसे अधिक आश्चर्य गांधीजी की समस्त जनता में प्रेरणा और उत्साह भरने की विस्मयकारी शक्ति पर हुआ। उनमें मानो एक मोहिनी थी और हमें गोखले के उन शब्दों का स्मरण हो आया जिनका उन्होंने एक बार गांधीजी के लिए प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था—"इनमें मिट्टी के घोंधे से बड़े-बड़े बहादुरों का निर्माण करने की शक्ति है।" राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक कार्य-प्रणाली के रूप में शांत सविनय अवज्ञा आंदोलन अपनी उपयोगिता सिद्ध कर चुका था और देश भर में—मित्रों और शत्रुओं दोनों के हृदय में—यह मौन विश्वास उत्पन्न हो गया कि हम विजय की ओर बढ़ रहे हैं। जो लोग आंदोलन में सक्रिय भाग ले रहे थे उनमें एक विचित्र उत्तेजना भरी हुई थी और यह उत्तेजना कुछ-कुछ जेलों तक में पहुंच गई थी। साधारण कैदी कहते थे—'स्वराज आ रहा है' और इस स्वार्थपूर्ण आशा में कि इससे उन्हें कुछ लाभ होगा वे उसकी बेचैनी के साथ प्रतीक्षा करते रहे। जेलवाले भी बाज़ार की चर्चाओं को सुनकर यह उम्मीद करने लगे थे कि स्वराज निकट है। जेल के छोटे-छोटे अधिकारी कुछ ज्यादा परेशान दिखाई देने लगे थे।

गोलमेज कान्फ्रेंस के बाद

६ फरवरी, १९३१, को—ठीक उसी दिन और शायद ठीक उसी समय जब मेरे पिताजी की मृत्यु हुई—गोलमेज कान्फ्रेंस के भारतीय सदस्यों का एक दल बम्बई लौटा। श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और शायद कुछ और लोग, जिनकी मुझे याद नहीं, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी और कांग्रेस कार्यसमिति के कुछ सदस्य पहले से ही वहां थे। हमारे घर पर कुछ प्राइवेट बैठकें हुईं जिनमें गोलमेज कान्फ्रेंस में किय गए कामों का ब्योरा दिया गया।

गोलमेज कान्फ्रेंस के निर्णयों का कोई महत्त्व नहीं, यह मत हमारा पहले भी था और अब उसीकी पुष्टि हुई। उस समय किसीने—मुझे याद नहीं किसने—यह सुझाव रखा कि गांधीजी वाइसराय को पत्र लिखकर उनसे मुलाकात की अनुमति मांगें और साफ़-साफ़ बातें करें। गांधीजी ऐसा करने के लिए तैयार हो गए, यद्यपि मैं समझता हूं कि इस मामले में उन्हें कोई ज्यादा उम्मीद नहीं थी।

जो लोग गांधीजी से सहमत नहीं होते थे उनसे मिलना गांधीजी हमेशा पसन्द करते थे; लेकिन किसी एक आदमी से निजी मामलों पर या छोटे-छोटे सवालों पर बातचीत करना और बात थी और विजयी साम्राज्य-वाद का प्रतिनिधित्व करनेवाली ब्रिटिश सरकार जैसी अव्यक्तिगत संस्था से लोहा लेना और बात। गांधीजी इस बात को जानते थे और इसलिए वह लार्ड इर्विन से मिलने कोई ऊंची उम्मीद लेकर नहीं गये। सविनय अवज्ञा आंदोलन तब भी चल रहा था, किंतु सरकार से विचार-विनिमय होने की अधिक चर्चा होने के कारण उसकी उग्रता कुछ कम होगई थी।

मुलाकात की व्यवस्था फौरन हो गई और गांधीजी यह कह कर दिल्ली के लिए रवाना हो गए कि अगर अस्थायी समझौते के लायक कोई गम्भीर बातचीत हुई तो कार्यसमिति के सदस्यों को बुला लूंगा। कुछ दिनों बाद हम सब दिल्ली बुलाये गये। वहां हम तीन हफ्ते रहे। इस

अपना विचार बताकर मुझे चकित कर दिया था। मैं सोचा करता था कि स्वतंत्रता मिल जाने पर कांग्रेस का कांग्रेस के रूप में आप-से-आप अंत हो जायेगा। किंतु उनका विचार यह था कि कांग्रेस को रहना चाहिए, लेकिन एक शर्त पर—वह यह कि कांग्रेस अपने लिए एक आत्मत्याग का कानून बना-ले और यह निश्चय करले कि उसका एक भी सदस्य राज्य की अधीनता में कोई वैतनिक पद स्वीकार नहीं करेगा और यदि कोई व्यक्ति राज्य में किसी अधिकारी का पद ग्रहण करना चाहेगा तो उसे कांग्रेस से अलग हो जाना पड़ेगा। इस समय मुझे ठीक से याद नहीं कि उन्होंने यह बात किस-किस तरह से समझाई, किंतु उनका असली मन्तव्य यह था कि कांग्रेस अपने आत्मत्याग के बल पर और चिंताहीन रहकर सरकार के कार्यकारी और अन्य विभागों पर बड़ा जबरदस्त नैतिक दबाव डाल सकती है और उन्हें ठीक मार्ग पर रख सकती है।

यह एक असाधारण विचारधारा है, जिसे ग्रहण करना मेरे लिए मुश्किल है और जिससे अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस तरह की संस्था का (यदि उसकी कल्पना की जाय तो) किसी-न-किसी विशेष स्वार्थवाले व्यक्ति द्वारा दुरुपयोग अवश्य होगा। किंतु यदि हम इसकी व्यावहारिकता के प्रश्न को छोड़ भी दें तब भी हमें इससे गांधीजी की विचारधारा की पृष्ठभूमि को कुछ-कुछ समझने में सहा-यता अवश्य मिलती है।

जनतन्त्र

गांधीजी के जनतंत्र-विषयक विचार का जनसंख्या, बहुमत अथवा साधारण अर्थ में प्रतिनिधित्व से कोई संबंध नहीं है। उसका आधार सेवा और त्याग है और उसमें नैतिक दबाव का प्रयोग होता है। गांधीजी का दावा है कि मैं "जन्म से ही जनतंत्री हूं।" अगर यह दावा अपने को गरीब-से-गरीब जनता के साथ पूरी तरह से मिला देने, उससे अच्छा जीवन बिताने की आकांक्षा न रखने और साथ-ही-साथ उसके स्तर तक पहुंचने

की भरसक चेष्टा करने के बल पर कर सकता हूं तो मैं भी वह दावा करता हूं।" यही गांधीजी की जनतंत्रवादी की परिभाषा है। वह आगे कहते हैं :

"हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि कांग्रेस को जनतंत्रीय रूप और प्रभाव प्राप्त करने का सौभाग्य इसलिए नहीं मिला है कि उसके वार्षिक अधिवेशनों में बहुत से प्रतिनिधि और दर्शक आते हैं। बल्कि इसलिए कि वह जनता की दिन-पर-दिन अधिक सेवा करती रही है। पश्चिमी जनतंत्र यदि असफल सिद्ध नहीं हो चुका है तो इसमें सन्देह नहीं कि उसकी अग्नि-परीक्षा हो रही है। ईश्वर करे कि जनतंत्र के सच्चे विज्ञान को जन्म देने का श्रेय भारत को मिले और वह उसकी सफलता का खुला प्रदर्शन कर सके।

"भ्रष्टाचार और पाखंड जनतंत्र के अनिवार्य परिणाम नहीं होने चाहिए, जैसे कि वे आजकल निस्संदेह हैं। जनतंत्र का सच्चा प्रमाण संख्या से नहीं मिलता। सच्चे जनतंत्र में ऐसे व्यक्तियों की कम संख्या का होना असंगत नहीं है जो जनता की अन्तर्भावना, आशा और महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हों। मेरा मत है कि जनतंत्र का विकास जोर-जबरदस्ती से नहीं हो सकता। जनतंत्र की भावना ऊपर से नहीं लादी जा सकती। उसका उद्‌गम अन्तर से ही होता है।"

निश्चय ही यह जनतंत्र पश्चिमी जनतंत्र नहीं है, जैसा कि गांधीजी स्वयं कहते हैं। फिर भी इसमें और साम्यवादी विचारधारा में कुछ समानता अवश्य है। ऐसे साम्यवादी बहुत ही कम हैं जो जनसाधारण की असली जरूरतों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकते हों, चाहे जनसाधारण स्वयं भी उनसे अनभिज्ञ क्यों न हो। फिर भी यह समानता नाममात्र को ही है। सच पूछिये तो दोनों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है वह इस समानता से कहीं अधिक है—विशेषतः कार्य-पद्धतियों और हिंसा के प्रयोग के संबंध में।

गांधीजी जनतंत्रवादी हों या न हों, इसमें सन्देह नहीं कि वह भारत

की किसान जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह इन लाखों किसानों की चेतनापूर्ण और अर्द्धचेतनापूर्ण आकांक्षा के सार हैं। यह शायद प्रतिनिधित्व से भी कुछ अधिक ही है, क्योंकि गांधीजी उनकी आदर्शपूर्ण प्रतिमूर्त्ति हैं। फिर भी वह एक साधारण किसान नहीं हैं। कुशाग्रतम बुद्धि, सुन्दर भाव, उत्तम पसन्द और विस्तृत दृष्टिकोण, अतिशय मानुषिक; फिर भी एक ऐसा संत जिसने अपनी लालसाओं और भावनाओं को कुचल दिया है, उन्हें अपना दास बनाकर आत्मिक प्रवाह में डाल दिया है; एक जबरदस्त क्तित्व जो लोगों को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लेता है और वफादारी व प्रेम की उत्कट भावनाएं जाग्रत कर देता है—ये हैं उसके एक किसान से बिलकुल भिन्न और परे हैं। लेकिन इन सब बातों भी वह सब से बड़ा किसान है; उसका जीवन-संबंधी दृष्टिकोण ा है और वह किसानों जैसे ही अपनी आंखें जीवन के कुछ ोर से बंद रखता है। लेकिन भारत किसानों का भारत है वह अपने भारत को खूब अच्छी तरह से जानता है, उसके के स्पन्दन को अनुभव करता है, स्थिति को ठीक-ठीक और ा से ही समझ लेता है। उसमें अनुकूल मनोवैज्ञानिक अवसर करने का अद्भुत कौशल है।

ब्रिटिश सरकार ही नहीं, बल्कि भारतीय जनता और अपने निकट-थियों तक के लिए गांधीजी एक समस्या और एक पहेली थे। शायद भी देशों में आज वह असंगत मालूम दें, किंतु भारत आज भी पाप, ..प और अहिंसा की बात करनेवाले इस भविष्यवक्ता और धार्मिक व्यक्ति को समझता या पसंद करता है। भारत की पौराणिक गाथाएं ऐसे साधु-संन्यासियों की कहानियों से भरी पड़ी हैं, जिन्होंने अपने त्याग और अपनी तपस्या के बल पर इतनी सामर्थ्य प्राप्त करली कि उससे छोटे-छोटे देवताओं के सिंहासन हिल उठे और स्थापित व्यवस्था अस्तव्यस्त होगई। गांधीजी की आश्चर्यजनक स्फूर्ति और आंतरिक शक्ति को मानो किसी अनन्त आध्यात्मिक स्रोत से प्रवाहित होते देखकर मुझे अक्सर

इन गाथाओं का स्मरण हो आया है। निश्चय ही वह इस संसार के एक साधारण व्यक्ति नहीं थे, वह एक बिलकुल भिन्न और दुर्लभ सांचे में ढले हुए मानव थे और अक्सर उनकी आंखों में से कोई अज्ञात वस्तु हमें घूरती प्रतीत होती थी।

किसानों की छाप

भारत—देहाती भारत ही नहीं बल्कि शहरी और औद्योगिक भारत—पर भी किसानों की छाप है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि भारतमाता अपने इस पुत्र को, जो उससे इतना मिलता-जुलता है किंतु फिर भी भिन्न है, अपना आराध्य और प्यारा नेता बनाती। उसने पुरानी और अर्द्ध-विस्मृत स्मृतियां जाग्रत कर दीं और भारतमाता को उसकी आत्मा का दर्शन करा दिया। वर्त्तमान की अंधकारपूर्ण विपदाओं में दबकर उसने विवशतापूर्ण वाणी और भूत तथा भविष्य के अनिश्चित-से स्वप्न बनाने में ही अपनी आत्मा को संतोष देना चाहा। किंतु गांधी ने आकर उसके मस्तिष्क को आशाओं से भर दिया, उसके क्षत-विक्षत शरीर को बल प्रदान किया और भविष्य एक आकर्षक दृश्य बन गया। जानस* की तरह द्विमुखी बनकर उसने पीछे अतीत की तरफ और आगे भविष्य की ओर भी देखा और दोनों का एकीकरण करने का प्रयत्न किया।

हममें से बहुत-से लोग इस कृषक दृष्टिकोण से अलग हट गये थे और पुराने ढंग के विचारों, रीति-रिवाज तथा धर्म को अपने लिए विदेशी समझने लगे थे। हम अपने को आधुनिक कहा करते थे और सब बातों को उन्नति, औद्योगीकरण, उच्चतर जीवन-मान तथा समूहवाद के दृष्टिकोण से देखा करते थे। हम किसानों के दृष्टिकोण को प्रतिगामी समझते थे

---

*जानस एक ग्रीक देवता है, जिसके दो मुख होते हैं। एक आगे और दूसरा पीछे देखता है। —सम्पादक

और हममेंसे कुछ लोग, जिनकी कि संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और साम्यवाद का पक्ष लेने लगे। तो फिर हमने गांधीजी के साथ अपना राजनैतिक संबंध कैसे जोड़ा और किस तरह हममें से बहुत से लोग उनके कट्टर अनुयायी बन गये ? इसका उत्तर आसान नहीं है और जो आदमी गांधीजी को नहीं जानता वह तो किसीके भी उत्तर से संतुष्ट नहीं हो सकता। व्यक्तित्व की परिभाषा नहीं की जा सकती। वह एक विचित्र शक्ति है, जिसका मनुष्य की आत्मा पर प्रभुत्व होता है। इस शक्ति की गांधीजी में बहुलता है और जो लोग उनसे मिलने आते हैं उन्हें वह एक बिलकुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे, किंतु अंततः यह इन लोगों का बौद्धिक विश्वास ही था जो उन्हें गांधीजी के पास ले आता था और वहां बनाये रखता था। वे उनके जीवन संबंधी दर्शन या कितने ही आदर्शों से भी सहमत नहीं होते थे। अक्सर वे उन्हें समझते भी नहीं थे। किंतु गांधीजी ने जो काम बताया वह ऐसा था जो समझ में आ सकता था और पसन्द भी किया जा सकता था। इतने दिनों की लम्बी निष्क्रियता के बाद, जिसका हमारी राजनीति ने पोषण किया था, किसी भी प्रकार की क्रियाशीलता प्रिय हो सकती थी। ऐसी दशा में नैतिक प्रभा से चमकते हुए वीरतापूर्ण और उपयोगी कार्य में मतिष्क और हृदय को छूनेवाली एक दुर्दमनीय अपील का होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे उन्होंने हमें विश्वास दिला दिया कि यह एक ठीक कार्य है और यद्यपि हमने उनके अध्यात्म को स्वीकार नहीं किया तथापि हम उनके साथ-साथ चले। कार्य को उसकी अन्तर्भूत भावना से पृथक् रखना शायद एक मुनासिब तरीका नहीं था और बाद में उससे मानसिक संघर्ष तथा कष्ट का उत्पन्न होना अनिवार्य था। कुछ अनिश्चित रूप से हम यह आशा करते रहे कि गांधीजी, जो प्रधानतः एक कर्मशील व्यक्ति थे और जिनपर बदलती हुई स्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता था, उसी मार्ग पर बढ़ेंगे जिसे हम ठीक समझते हैं। कुछ भी हो, वह जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे थे वह उस समय तक ठीक था और यदि भविष्य में मतभेद हो भी तो उसकी

पहले से ही आशंका करना मूर्खता होती ।

इन सब बातों से सिद्ध हो जाता है कि हमारे विचार साफ और निश्चित नहीं थे । हमारी भावना सदा यही थी कि अगर हम अधिक तर्कसंगत हैं तब भी गांधीजी भारत को हमसे ज्यादा जानते हैं और जो आदमी जनता की इतनी जबरदस्त श्रद्धा और वफादारी हासिल कर सकता है उसमें अवश्य ही उस जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सामंजस्य रखने की कोई बात होगी। हम सोचते थे कि यदि हम उनको विश्वास दिला सकते हैं तो जनता को भी बदल सकते हैं और उन्हें विश्वास दिलाना सम्भव मालूम होता था, क्योंकि अपने कृषक-दृष्टिकोण के बावजूद वह जन्म से ही विद्रोही थे । वह एक क्रान्तिकारी थे, उन्होंने महान् परिवर्तनों के लिए कमर कस रखी थी और वह परिणाम से भयभीत होकर कभी रुकते नहीं थे ।

'दासों के प्यारे कर्णधार'

गांधीजी ने आलसी और भ्रष्ट जनता को अनुशासित और कर्मण्य बनाया— किसी प्रकार का दबाव डालकर या आर्थिक प्रलोभन दिखाकर नहीं, बल्कि अपनी नम्र दृष्टि, अपने कोमल वचन, और इनसे भी अधिक, अपने व्यक्तिगत दृष्टांत से । मुझे याद है कि सन् १९१९ में अर्थात् सत्याग्रह के आरम्भिक दिनों में बम्बई के उमर सोबानी ने उन्हें 'दासों के प्यारे कर्णधार' कहकर पुकारा था। तब से १२ साल बाद के समय में बड़ी-बड़ी बातें हो गई थीं । उमर इन परिवर्तनों को देखने के लिए जीवित नहीं रहे थे, किंतु हम, जो कि उनसे अधिक सौभाग्यशाली थे, १९३१ के उन आरम्भिक महीनों से अतीत की ओर हर्ष और अभिमान से देख रहे थे। १९३० का साल हमारे लिए सचमुच ही एक बड़ा आश्चर्यजनक साल था और ऐसा मालूम होता था जैसे गांधीजी ने अपने जादू के डंडे से देश का रूप ही बदल दिया है । हममें से कोई भी आदमी यह सोचने की मूर्खता नहीं करता था कि हमने ब्रिटिश सरकार पर अंतिम विजय प्राप्त करली है । हमारे हर्ष की भावना

का सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं था। हमें अपनी जनता पर अभिमान था—अपनी महिलाओं पर, अपने नौजवानों पर, और अपने बच्चों पर उनके उन कार्यों के लिए जो उन्होंने आंदोलन के दिनों में किये थे। वह एक ऐसा आत्मिक लाभ था जो किसी भी समय और किसीके लिए भी बहुमूल्य हो सकता था। हम गुलामों और पददलितों के लिए तो उसका दुगुना मूल्य था और हम इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि कोई ऐसी बात न होने पावे जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

जहां तक मेरा अपना सवाल है, गांधीजी की मुझपर सदा बड़ी कृपा रहती थी और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें विशेषरूप से मेरे निकट ला दिया था। मुझे जो कुछ भी कहना होता था उसे उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सुना था और मेरी इच्छाओं को पूरा करने की भरसक चेष्टा की थी। इससे में यह सोचने लगा था कि शायद मैं और कुछ अन्य साथी उन्हें लगातार प्रभावित कर समाजवादी दिशा में खींचकर ले जा सकें। उन्होंने खुद कहा था कि जैसे-जैसे उनकी समझ में आता जायेगा वैसे-वैसे वह उधर धीरे-धीरे बढ़ते जायेंगे। उस समय मुझे यह बात प्रायः अनिवार्य-सी मालूम होती थी कि वह समाजवाद के बुनियादी सिद्धांतों को अंगीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे उस समय की हिंसा, अन्याय, बर्बादी और विपदा से बचने की कोई और सूरत नहीं दिखाई देती थी। समाजवाद की कार्य-पद्धति से वह असहमत हो सकते थे, किंतु उसके आदर्श से नहीं। उन दिनों मैं ऐसा ही सोचा करता था, किंतु अब समझ गया हूं कि गांधीजी के विचारों और समाजवादी दृष्टिकोण में बुनियादी भेद हैं।

दिल्ली का समझौता

४ मार्च की रात को हम लोग आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय भवन से लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। वह दो बजे लौटे और हमें जगाकर बताया गया कि समझौता हो गया है। हमने उस समझौते का मसविदा देखा। मैं उसकी अधिकांश धाराओं को जानता था, क्योंकि उन पर अक्सर

वादविवाद हुआ था, किंतु ऊपर ही धारा २* को देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। उसमें संरक्षण आदि का उल्लेख था। मैं उसके लिए बिलकुल तैयार नहीं था। उस समय मैंने कुछ नहीं कहा और हम सब सो गये।

कुछ और कहने सुनने का सवाल ही नहीं था। काम हो चुका था और हमारा नेता अपना वचन दे चुका था। यदि हम उनसे असहमत भी थे तो कर क्या सकते थे? उन्हें हटा देते? उनसे सम्बन्ध तोड़ लेते? अपने मतभेद की घोषणा करते? ऐसा करने से किसी व्यक्ति विशेष को कुछ वैयक्तिक संतोष हो सकता था, किंतु उसका अंतिम निर्णय पर कुछ असर नहीं पड़ता। कम-से-कम उस समय के लिए तो सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर ही दिया गया था और जबकि सरकार यह कह सकती थी कि गांधीजी ने समझौता कर लिया है तो कार्यसमिति उस आंदोलन को आगे नहीं बढ़ा सकती थी। अपने दूसरे साथियों की तरह मैं भी इस आंदोलन को स्थगित कर सरकार से अस्थायी समझौता करने के लिए तैयार था। हमारे लिए यह काम आसान नहीं था कि हम अपने साथियों को फिर जेल भेज दें या जो हजारों लोग जेल में थे उनके वहीं रह जाने का कारण बनें। कैद कोई ऐसी सुन्दर जगह नहीं है जहां जिन्दगी बिताई

---

*५ मार्च, १९३१ के दिल्ली-समझौते की धारा २ इस प्रकार है—"जहां तक वैधानिक प्रश्नों का सवाल है, ब्रिटिश सरकार की अनुमति से भावी विचार-विनिमय के क्षेत्र का इसलिए उल्लेख किया जा रहा है कि गोलमेज कान्फ्रेंस में वैधानिक भारत सरकार की जिस योजना पर विचार किया गया था, उस पर आगे विचार किया जा सके। उसमें जो योजना दी गई है, 'संघ' उसका अनिवार्य अंग है। यही बात भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित में ऐसी बातों के संरक्षण के सम्बन्ध में है जैसे सुरक्षा, विदेशी मामले, अल्पसंख्यकों की स्थिति, भारत की आर्थिक मर्य्यादा और उत्तरदायित्वों की पूर्ति।

जाय, यद्यपि हममें से कुछ लोग अपने को उसके लिए तैयार कर सकते हैं और उसकी घातक दिनचर्या की ओर से लापरवाही व्यक्त कर सकते हैं। इसके अलावा गांधीजी और लार्ड इर्विन के बीच तीन सप्ताह या उससे भी अधिक दिनों तक बातचीत चलते रहने से देश भर को यह आशा होने लगी थी कि समझौता होने ही वाला है। इस अवस्था पर आकर अगर समझौते की वार्त्ता टूट जाती तो सबको बड़ी निराशा होती। इसलिए कार्यसमिति के सभी सदस्य निश्चय ही एक अस्थायी समझौते के पक्ष में थे---अस्थायी समझौते से अधिक वह हो भी क्या सकता था---बशर्ते कि उससे हमारी कोई महत्त्वपूर्ण पराजय न होती।

दो बातें ऐसी थीं जिनमें मुझे सब से ज्यादा दिलचस्पी थी। उनमें से एक यह थी कि हमारी स्वतंत्रता की मांग किसी तरह भी ढीली न की जाय और दूसरी यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के गांवों पर क्या असर पड़ेगा। गांधीजी ने यह बात लार्ड इर्विन से बिलकुल साफ कर दी थी। सरकार जो कर मांगती थी उसे देने में किसान असमर्थ थे। गांधीजी ने कह दिया था कि यद्यपि कर-विरोधी आंदोलन बंद कर दिया जायेगा तथापि हम किसानों को अपनी सामर्थ्य से अधिक देने की सलाह नहीं दे सकते।

हमारे लक्ष्य---अर्थात् स्वतंत्रता का भी प्रश्न था। मैंने देखा कि समझौते की धारा २ के कारण यह उद्देश्य भी संकट में पड़ गया है। क्या यही चीज थी जिसके लिए हमारी जनता ने एक साल तक इतनी बहादुरी के साथ काम किया था? क्या वीरता से भरी हुई हमारी सारी बातों और हमारे सारे कार्यों का यही अन्त होने वाला था? क्या इसके लिए कांग्रेस का स्वतंत्रता-दिवस प्रस्ताव पास किया गया था और क्या इसीके लिए २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इतनी बार दुहराई गई थी? उस रात मैं लेटा-लेटा इन्हीं बातों पर विचार करता रहा और मुझे अपने हृदय में एक बहुत बड़े सूनेपन का अनुभव होता रहा, मानो कोई बहुमूल्य वस्तु खो गई है और उसके वापस मिलने की आशा नहीं रह गई है।

संसार का अंत इसी ढंग से होता है।
धमाके के साथ नहीं बल्कि मंद रुदन के साथ !

किसी और जरिये से गांधीजी को मेरे इस क्षोभ का पता लग गया और उन्होंने मुझे अगले दिन टहलने के समय अपने साथ चलने को कहा। उस दिन हमारी उनकी बड़ी देर तक बातें हुईं और उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि हमने कोई भी महत्त्वपूर्ण चीज नहीं खोई है और न हमारी कोई सैद्धांतिक पराजय ही हुई है। उन्होंने समझौते की धारा २ की व्याख्या एक ऐसे विशेष ढंग से की जिससे वह हमारी स्वतंत्रता की मांग के अनुकूल प्रतीत होने लगे। उनका तर्क मुख्यतः 'भारत के हित में' शब्दों पर आधारित था। मुझे उनकी व्याख्या एक जबरदस्ती की व्याख्या मालूम हुई और मुझे संतोष नहीं हुआ, यद्यपि उनकी बातों ने मुझे शांत अवश्य कर दिया। समझौते की अच्छाइयों की बात तो अलग रही मैंने उनसे कहा कि हम लोगों को एकाएक अचम्भे में डाल देने की आपकी जो रीति है उससे मुझे भय लगता है। उनमें कोई ऐसी अज्ञात वस्तु थी जिसे १४ साल के निकटतम सम्पर्क के बाद भी मैं बिलकुल नहीं समझ पाया था और जो मुझे भयभीत कर दिया करती थी। उन्होंने स्वीकार किया कि उनमें ऐसी कोई वस्तु है, किंतु कहा कि मैं खुद इसका कोई जवाब नहीं दे सकता और न यह भविष्यवाणी ही कर सकता हूं कि उसका क्या परिणाम निकलेगा।

एकदो दिन तक मैं इसी तरह विचलित रहा और समझ म नहीं आता था कि क्या करूं। उस समय समझौते का विरोध करने या उसे रोकने का कोई प्रश्न नहीं था। वह अवस्था तो बीत चुकी थी और मैं इतना ही कर सकता था कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सैद्धांतिक रूप से उससे अपने को अलग करलूं। उससे मेरा अपना अहंकार तो शांत हो जाता, किंतु देश के बड़े प्रश्न के समाधान में कोई सहायता नहीं मिलती। इसलिए मैंने सोचा कि क्या यह अच्छा नहीं होगा कि जो कुछ हो चुका है उसे मैं शिष्टतापूर्वक स्वीकार कर लूं और उसकी अधिक-से-अधिक

अनुकूल व्याख्या करूं जैसा कि गांधीजी ने किया था ? समझौते के फ़ौरन बाद ही उन्होंने अख़बारनवीसों से मुलाकात करते हुए इसी व्याख्या पर ज़ोर दिया था और कहा था कि हम अब भी अपनी स्वतंत्रता की मांग पर दृढ़ हैं। लार्ड इर्विन के पास जाकर उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण भी कर लिया ताकि उस समय और भविष्य में कोई गलतफहमी न होने पाये। उन्होंने लार्ड इर्विन से यह भी कह दिया कि अगर कांग्रेस गोलमेज कान्फ्रेंस में अपना कोई प्रतिनिधि भेजेगी तो इसी आधार पर इसी मांग को प्रस्तुत करने के अभिप्राय से भेजेगी। लार्ड इर्विन इस दावे को स्वीकार तो नहीं कर सके, लेकिन उन्होंने यह मान लिया कि कांग्रेस को उसे प्रस्तुत करने का अधिकार है।

इसलिए मैंने समझौते को स्वीकार करने और उसके लिए पूरी लगन के साथ काम करने का निश्चय किया, यद्यपि ऐसा करने में मुझे काफ़ी मानसिक संघर्ष और शारीरिक क्षोभ का सामना करना पड़ा। मुझे कोई बीच का रास्ता ही नहीं दिखाई देता था।

समझौते से पहले और उसके बाद भी गांधीजी की लार्ड इर्विन से जो मुलाकातें हुई थीं उनमें उन्होंने सविनय अवज्ञा से सम्बन्ध न रखने वाले सभी राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने पर जोर दिया था। सविनय अवज्ञा के कैदी तो समझौते की शर्त के अनुसार रिहा होने वाले थे ही, लेकिन उनके सिवा हजारों और कैदी भी थे, जिनमें से कुछ को तो अदालती कार्रवाई के बाद कैद की सजा मिली थी और कुछ ऐसे थे जो बिना किसी आरोप, अदालती कार्रवाई या सजा के ही नजरबन्द थे। इनमें से अनेक तो कई वर्षों से ऐसे ही नजरबन्द चले आ रहे थे और इस तरह बिना मुकदमा चलाये ही कैद में रखने की प्रणाली पर सारे भारतवर्ष—और खास तौर से बंगाल में जहां कि इसका सब से ज्यादा असर पड़ा था—अतिशय क्रोध की भावना फैली हुई थी। गांधीजी ने इनकी रिहाई की पैरवी की थी और कहा था कि समझौते की शर्तों के मुताबिक न सही, कम-से-कम बंगाल में राजनैतिक तनाव को कम करने और वहां अधिक शांतिपूर्ण वातावरण

स्थापित करने के लिए इन कैदियों की रिहाई अत्यन्त अपेक्षणीय है। किंतु सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी।

कराची-कांग्रेस

कराची की कांग्रेस गांधीजी के लिए पहले की सभी कांग्रेसों से बड़ी व्यक्तिगत विजय थी। उसके अध्यक्ष, सरदार वल्लभभाई पटेल, भारत के सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली व्यक्तियों में से थे और उन्हें गुजरात में सफल नेतृत्व की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो चुकी थी; फिर भी उस अधिवेशन के प्रधान व्यक्ति महात्माजी ही थे।

इस अधिवेशन का मुख्य प्रस्ताव दिल्ली-समझौते और गोलमेज कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध में था। चूंकि यह प्रस्ताव कार्यसमिति की ओर से रखा गया था, इसलिए मैंने उसे स्वीकार कर लिया, किंतु जब गांधीजी ने मुझसे उसे कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उपस्थित करने को कहा तो मैंने आनाकानी की। यह मेरे स्वभाव के विरुद्ध था, इसलिए मैंने मना कर दिया। पर बाद में मैंने सोचा कि यह स्थिति तो एक दुर्बल और असंतोष-जनक स्थिति है। मुझे या तो इसके पक्ष में रहना है या इसके विरुद्ध; इस मामले में जनता को अनिश्चय में छोड़ना उचित नहीं। अतः बिलकुल अंतिम समय पर, प्रस्ताव के खुले अधिवेशन में प्रस्तुत किये जाने से कुछ ही मिनट पहले, मैंने उसे उपस्थित करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने उस विशाल जन-समुदाय के सामने अपने मन की बात साफ़-साफ़ रख देने की कोशिश की। यह बताते हुए कि मैंने उस प्रस्ताव को क्यों स्वीकार किया है जनता से भी उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। वह भाषण, जो कि तात्कालिक आवेश में दिया गया था और हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकला था और जिसमें बहुत ही कम अलंकार और शब्दाडम्बर था, मेरे पहले के उन सभी भाषणों से अधिक सफल था जिन्हें मैंने ज्यादा साव-धानी से तैयारी करने के बाद दिया था। मैं दूसरे प्रस्तावों पर भी बोला—विशेष रूप से भगतसिंह सम्बन्धी प्रस्ताव और बुनियादी अधिकारों तथा

आर्थिक नीति के प्रस्ताव पर।

किंवदंति यह है कि इस प्रस्ताव को—या कम-से-कम उसके एक बड़े भाग को—साम्यवाद से सहानुभूति रखनेवाले किसी रहस्यपूर्ण व्यक्ति ने तैयार किया था और कराची में उसे मुझपर डाल दिया था, जिसके बाद मैंने गांधीजी को चुनौती दी थी कि या तो इसे स्वीकार कीजिये या दिल्ली-समझौते के प्रश्न पर मेरे विरोध का सामना कीजिये और इसपर गांधीजी ने मुझे शांत करने के लिए प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था तथा उसे विषय-समिति के थकेमांदे सदस्यों के गले उतारकर आखिरी दिन कांग्रेस पर लाद दिया था।

जहां तक गांधीजी का सवाल है, मुझे उन्हें काफी घनिष्ठता के साथ जानने का सौभाग्य मिला है और उन्हें चुनौती देने या उनसे सौदा करने का विचार मुझे पैशाचिक मालूम होता है। हम एक दूसरे के लिए अपने हृदय में स्थान निकाल सकते हैं या किसी विशेष मामले में एक दूसरे से पृथक् भी हो सकते हैं, किंतु हमारे पारस्परिक व्यवहार में कभी बाजारू तरीकों का प्रयोग नहीं हो सकता।

४

सितम्बर १९३२ के मध्य में हमारे शांत और नीरस जेल-जीवन में सहसा बम-विस्फोट हुआ। समाचार मिला कि रैमजे मैक्डोनैल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय में दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन का जो अधिकार दिया है उसके विरोध में गांधीजी ने आमरण अनशन करने का निश्चय किया है। जनता के हृदय को एकाएक धक्का पहुंचाने की उनमें कैसी अपूर्व क्षमता थी! सहसा मेरे मस्तिष्क में सभी प्रकार के विचार दौड़ गये। मेरी आंखों के सामने सभी तरह की सम्भावनाएं और संकट-कालीन आवश्यकताएं नाच उठीं और उनसे मेरे चित्त का संतुलन बिलकुल नष्ट हो गया। दो दिन तक मैं पूर्ण अंधकार में रहा और उससे बाहर निकलने के लिए मुझे कहीं प्रकाश नहीं दिखाई दिया। गांधीजी के इस कार्य के कुछ परिणामों को सोचकर तो मेरा दिल बैठने लगता था। व्यक्तिगत रूप से भी चिंता कुछ कम नहीं थी। मुझे यह सोचकर बड़ी मानसिक वेदना होती थी कि शायद अब मैं उन्हें न देख सकूं। आखिरी बार मैंने उन्हें इंग्लैंड जाते समय जहाज पर देखा था और उसको एक वर्ष हो गया था। क्या वही उनका अंतिम दर्शन सिद्ध होनेवाला था?

और तब मुझे इस बात पर बड़ी झुंझलाहट हुई कि उन्होंने अपने अंतिम उत्सर्ग के लिए एक गौण समस्या चुनी है। इसका हमारे स्वतंत्रता-संग्राम पर क्या असर पड़ेगा? क्या इसके कारण, कम-से-कम कुछ समय के लिए, बड़े-बड़े प्रश्न पृष्ठभूमि में नहीं पड़ जायेंगे? और यदि वह अपने

तत्कालीन उद्देश्य में सफल भी हो गये और दलित जातियों के लिए संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली स्वीकार भी करा ली तो क्या उसकी प्रतिक्रिया नहीं होगी और लोगों में यह भावना जड़ नहीं पकड़ लेगी कि थोड़ा-बहुत तो मिल ही गया है, अब कुछ समय के लिए कुछ और करने की आवश्यकता नहीं? और क्या उनका यह काम सरकार द्वारा समर्थित साम्प्रदायिक निर्णय और दूसरी आम योजनाओं को नियमित मानने या अंशतः स्वीकार करने के बराबर नहीं होगा? क्या उनका यह कार्य असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों से सामंजस्य रखता है? इतने त्याग और वीरतापूर्ण प्रयत्नों के बाद क्या हमारा आंदोलन किसी अज्ञात वस्तु में विलीन हो जानेवाला है?

गांधीजी के इस प्रकार एक राजनैतिक प्रश्न पर धार्मिकता और भावुकता के धरातल से विचार करने और उस सम्बन्ध में बारबार ईश्वर का उल्लेख करने पर मुझे क्रोध आया। उन्होंने तो यहां तक कहा कि ईश्वर ने उनके उपवास की वास्तविक तिथि तक का संकेत कर दिया है। वह लोगों के सामने कैसा भयंकर दृष्टांत रख रहे थे!

अगर बापू मर गये तो भारत का क्या रूप होगा? और उसकी राजनीति कैसे चलेगी? हमें अपने सामने एक भयावना और अंधकारपूर्ण भविष्य दिखाई दिया और जब मैंने उसपर विचार किया तो मेरा मन निराशा से भर गया।

इस प्रकार जब मेरे मस्तिष्क में हलचल मची हुई थी, मैं क्रोध और निराशा लिये और जिस व्यक्ति ने यह उथलपुथल मचाई थी उसके लिए मन में प्रेम छिपाये, बराबर सोचता रहा। मेरी समझ में नहीं आता था कि क्या करूं और मैं सबके साथ—सबसे अधिक अपने साथ—चिड़चिड़ा बन गया था।

उपवास का जादू

और तब मेरे साथ एक अजीब बात हुई। जिस मानसिक संकट ने एकाएक मुझे घेर लिया था उसका शमन हो जाने पर मुझे अपेक्षाकृत

शांति का अनुभव हुआ और भविष्य मुझे उतना अंधकारपूर्ण नहीं दिखाई दिया। बापू में परिपक्व मनोवैज्ञानिक अवसर पर समयोचित कार्य करने की अद्‌भुत कुशलता थी और सम्भव था कि उनके उपवास का—जिसका कि मैं उस रूप में अपने दृष्टिकोण से समर्थन नहीं कर सकता था—केवल उसके सीमित और संकुचित क्षेत्र में नहीं, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के व्यापक क्षेत्र में ही बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलता। और, अगर बापू मर भी जाते तो हमारा स्वतंत्रता-संग्राम आखिर चलता ही रहता। इसलिए जो भी हो हमें अपने को तैयार और स्वस्थ रखना था। गांधीजी की मृत्यु तक का अविचलित रूप से सामना करने का निश्चय कर मैंने अपने को शांत, सुस्थिर और संसार तथा समय के गर्भ में छिपी हुई सम्भावनाओं का सामना करने को तैयार पाया।

और तब देश भर में भयंकर उथलपुथल मचने का समाचार मिला; हिंदू समाज में उत्साह की एक जादू-जैसी लहर दौड़ गई और अस्पृश्यता का अंत निकट दिखाई दिया। मैंने सोचा कि यरवदा जेल में बैठा हुआ यह सूक्ष्म-सा व्यक्ति कितना बड़ा जादूगर है और वह उस डोरी को खींचने में कितना प्रवीण है जो जनसाधारण के हृदय को हिला देती है।

मेरे पास गांधीजी का एक तार आया। जेल की सजा मिलने के बाद उनका यह पहला संदेश था और इतने दिनों बाद उनके पास से समाचार पाकर मुझे बड़ा सहारा मिला। तार में लिखा था—

"इन यातनापूर्ण दिनों में तुम सदा मेरी आंखों के सामने रहे हो। मैं तुम्हारी राय जानने को बड़ा उत्सुक हूं। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी राय को कितना मूल्यवान समझता हूं। स्वरूप के बच्चों और इन्दू से मिला था। इन्दू प्रसन्न और कुछ मोटी दिखाई देती थी। मैं भी ठीक हूं। तार से उत्तर दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण किंतु गांधीजी के स्वभाव के बिलकुल अनुकूल बात थी कि उपवास का कष्ट उठाते समय और अपने अनेक कार्यों में

व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी लड़की का और मेरी बहन के बच्चों का अपने यहां आने का उल्लेख किया और यहां तक लिखा कि इंदिरा मोटी हो गई है। (मेरी बहन भी उन दिनों जेल में थी और ये सब बच्चे पूना में एक स्कूल में थे।) वह जीवन की उन बातों को कदापि नहीं भूलते जो देखने में तो छोटी लगती हैं, किंतु वास्तव में जिनका अर्थ बहुत बड़ा होता है।

उसी समय मुझे यह भी समाचार मिला कि निर्वाचन प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ समझौता हो गया है। जेल के सुपरिनटेंडेंट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को उत्तर भेजने की अनुमति दे दी और मैंने उन्हें यह तार दिया—

"आपके तार और साथ ही इस संक्षिप्त समाचार से कि किसी तरह का समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई है। आपके उपवास के समाचार से पहले मुझे बड़ी मानसिक पीड़ा और उलझन हुई, किंतु अंत में आशा की विजय हुई और मेरे चित्त की शांति लौट आई। दमन के शिकार पददलितों के लिए जो भी त्याग किया जाय थोड़ा है। स्वतंत्रता की परीक्षा तो निम्नतम श्रेणी के लोगों की ही स्वतंत्रता के आधार पर होनी चाहिए, किंतु भय है कि कहीं दूसरे प्रश्न हमारे एकमात्र लक्ष्य को आच्छादित न कर लें। मैं इस प्रश्न पर धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। खतरा है कि कहीं दूसरे लोग आपके तरीकों से फायदा न उठावें, किंतु मैं एक जादूगर को सलाह देने की कल्पना भी कैसे कर सकता हूं। प्रेम।"

हरिजन-आंदोलन

पूना में जमा हुए विभिन्न लोगों ने एक पैक्ट (समझौते) पर हस्ताक्षर किये, जिसे ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने असाधारण स्फूर्ति के साथ स्वीकार कर अपने पहले निर्णय को पैक्ट के अनुसार बदल दिया और गांधीजी का उपवास भंग हो गया। ऐसे पैक्ट और समझौते मुझे बहुत नापसन्द थे, किंतु मैंने पूना-पैक्ट का हार्दिक स्वागत किया।

उत्तेजना कम हुई और हम एक बार फिर जेल के क्रम के अनुसार जीवन बिताने लगे। हरिजन-आंदोलन के समाचार मिलते रहे और गांधीजी जेल में ही बैठे-बैठे जो काम किया करते थे उनका भी पता चलता रहा, किंतु इनसे मुझे ज्यादा खुशी नहीं होती थी। यह तो ठीक है कि छुआछूत को दूर करने और दुःखी पददलित जातियों को ऊपर उठाने के आंदोलन को अद्‌भुत गति प्राप्त हो गई थी—पूना पैक्ट से उतनी नहीं जितनी कि सारे देश में व्याप्त एक धार्मिक युद्ध की लहर से। इस स्थिति का हमें स्वागत करना चाहिए था। किंतु यह भी स्पष्ट हो गया था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को क्षति पहुंची हैं। देश का ध्यान अन्य समस्याओं की ओर बंट गया था और कांग्रेसी कार्यकर्त्ता हरिजन-आंदोलन में लग गये थे। शायद इनमें से ज्यादातर लोग इस तरह के अधिक सुरक्षित कामों में लगने का बहाना चाहते थे, जिनमें जेल जाने या (जो कि इससे भी बुरा था) लाठियां खाने और जायदाद के जब्त होने का भय न हो। यह स्वाभाविक भी था और यह सोचना उचित नहीं था कि हमारे हजारों कार्य-कर्त्ता हर समय जबरदस्त तकलीफें उठाने और अपने घरों के तोड़े-फोड़े तथा नष्ट किये जाने के लिए तैयार रहेंगे। फिर भी अपने महान् आंदोलन को इस प्रकार धीरे-धीरे विनष्ट होते देखना हमारे लिए कष्टदायक था। सविनय अवज्ञा का आंदोलन अब भी चल रहा था और कभी-कभी सामूहिक प्रदर्शन भी होते रहते थे; उदाहरण के लिए, कलकत्ता कांग्रेस, जो सन् १९३३ के मार्च-अप्रैल के महीने में हुई थी। गांधीजी यरवदा जेल में थे, किंतु उन्हें कुछ लोगों से मिलने और हरिजन आंदोलन के लिए हिदायतें देन की कुछ विशेष रियायतें मिली हुई थीं। इससे उनका जेल में होना उतना नहीं अखरता था, किंतु इन सब बातों से मुझे खिन्नता होती थी।

इक्कीस दिनों का उपवास

कई महीनों बाद, मई १९३३ के आरम्भ में गांधीजी ने अपना इक्कीस दिनों का उपवास आरम्भ किया। इस घटना के प्रथम समाचार से

मुझे फिर धक्का लगा था, किंतु मैंने इसे एक अनिवार्य घटना के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने को उसके लिए तैयार किया। मुझे इस बात पर झुंझलाहट मालूम होती थी कि जब गांधीजी एक बार उपवास करने का निश्चय कर चुके हैं और सार्वजनिक रूप से उसकी घोषणा भी कर चुके हैं तो लोग उनपर उसे त्यागने का जोर क्यों डालते हैं। उपवास की बात मेरी समझ में नहीं आया करती थी और यदि निश्चय करने से पहले मुझसे पूछा गया होता तो निश्चय ही मैंने उसका जोरों से विरोध किया होता। किंतु मैं गांधीजी के संकल्प को बड़ा महत्त्व दिया करता था और एक ऐसे निजी मामले में जिसका कि उनकी दृष्टि में बड़ा महत्त्व था, किसीका उनसे उस संकल्प को तोड़ने के लिए कहना मुझे बड़ा गलत मालूम होता था। इसलिए दुःखी होते हुए भी मैंने उसे सहन कर लिया।

उपवास आरम्भ करने से कुछ दिन पहले गांधीजी ने मुझे एक पत्र लिखा था जिसे पढ़कर मेरा जी भर आया। चूंकि उन्होंने उत्तर मांगा था, इसलिए मैंने उन्हें निम्नलिखित तार भेजा--

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके सम्बन्ध में क्या कह सकता हूं। इस विचित्र देश में, जहां आप ही एकमात्र परिचित मार्गदर्शक हैं, मैं अपने को खोया-खोया-सा पाता हूं। मैं अंधकार में अपने मार्ग को ढूंढ़ने का प्रयत्न करता हूं, किंतु ठोकर खाकर गिर पड़ता हूं। जो हो, मेरा प्रेम और मेरे विचार आपके साथ होंगे।"

मुझे उनका काम बिलकुल पसन्द नहीं था, किंतु मैंने अपनी इस भावना को भरसक दबाने का प्रयत्न किया। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुंचाना चाहता था, फिर भी मैंने महसूस किया कि मेरा संदेश हर्षयुक्त नहीं है और अब जबकि उन्होंने इस भयंकर अग्नि-परीक्षा में से होकर गुजरने का संकल्प कर लिया है और सम्भव है कि इसमें उनकी जान तक चली जाय, मुझे भरसक उन्हें ढांढस बंधाना चाहिए। मैं जानता था कि छोटी-छोटी बातों से मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होता है और जिन्दा रहने के लिए गांधीजी को अपने एक-एक स्नायु पर जोर डालना होगा। मैंने यह भी महसूस

किया कि चाहे कोई भी घटना घटे—यहां तक कि यदि दुर्भाग्यवश उनकी मृत्यु तक हो जाय—तो भी हमें उसका दिलेरी के साथ सामना करना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें एक दूसरा तार भेजा—

"अब चूंकि आपने अपने महान् कार्य को आरम्भ कर दिया है, मैं आपको एकबार फिर अपना प्रेम और अपनी बधाइयां भेजता हूं और इस बात का विश्वास दिलाता हूं कि यह अनुभूति अब मुझे पहले से अधिक स्पष्ट हो गई है कि जो कुछ भी होगा अच्छा ही होगा और उसमें आपकी विजय होगी।"

गांधीजी उपवास को पार कर गये। वह पहले ही दिन जेल से छोड़ दिये गये थे और उनकी सलाह पर सविनय अवज्ञा आंदोलन ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

एक नई चुनौती

यह बात हर तरफ़ साफ-साफ दिखाई दे रही थी कि लोगों में जांच-पड़ताल करने, सवाल पूछने और वर्त्तमान संस्थाओं को चुनौती देने की एक नई भावना आती जा रही है। इस मानसिक हवा की आम दिशा स्पष्ट थी, किंतु अभी वह एक धीमी बयार के ही रूप में थी और उसे अभी अपनी शक्ति में पूरा-पूरा विश्वास नहीं था। कुछ लोग फासिस्ट भावनाओं के साथ खेल रहे थे। निर्मल और निश्चित सूझबूझ की कमी दिखाई दे रही थी। राष्ट्रीयता अब भी प्रधान विचारधारा थी।

यह बात मुझे स्पष्ट रूप से समझ में आगई कि जबतक थोड़ी-बहुत राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं मिल जायेगी तबतक राष्ट्रीयता ही सब-लोगों की प्रधान प्रेरणा बनी रहेगी। यही कारण था कि कांग्रेस भारत की सबसे उन्नत और शक्तिशाली संस्था बनी रही थी (और कुछ मजदूर-क्षेत्रों को छोड़कर) अब भी थी। पिछले १३ वर्षों में गांधीजी के नेतृत्व में उसने जनता में एक आश्चर्यजनक जाग्रति उत्पन्न की थी और अपनी अनिश्चित मध्यम वर्गीय विचारधारा के बावजूद उसने एक क्रांतिकारी उद्देश्य

की पूर्ति की थी। उसकी उपयोगिता अभी कम नहीं हुई थी और जब तक राजनैतिक प्रेरणा का स्थान सामाजिक प्रेरणा न लेले तबतक उसके कम होने की सम्भावना भी नहीं थी। इसलिए देश की भावी उन्नति—सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों—अधिकतः कांग्रेस से ही सम्बद्ध मानी जानी चाहिए, यद्यपि इसके लिए अन्य मार्गों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

किंतु उन दिनों कांग्रेस का अर्थ गांधीजी से था। वह क्या करेंगे? उनके विचार कभी-कभी बड़े ही पुराने जमाने के होते थे, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह भारत में आधुनिक युग के सबसे बड़े क्रांतिकारी थे। उनका व्यक्तित्व एक विचित्र व्यक्तित्व था और उनका मूल्य साधारण दण्ड से नहीं आंका जा सकता था, यहां तक कि उनपर तर्कशास्त्र धारण नियम भी लागू नहीं किये जा सकते थे। किंतु चूंकि वह क्रांतिकारी थे और उन्होंने भारत की स्वतंत्रता का संकल्प ले इसलिए स्वतंत्रता की प्राप्ति तक उनका इस प्रकार दृढ़तापूर्वक ते रहना अनिवार्य था। मुझे आशा थी कि इसी क्रिया में वह महान् शक्ति उत्पन्न कर देंगे और धीरे-धीरे स्वयं भी सामाजिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

पिछले कितने ही वर्षों से भारत के और भारत से बाहर के कट्टर साम्यवादी गांधीजी तथा कांग्रेस पर कटु आक्षेप करते रहे हैं और कांग्रेसी नेताओं पर हर तरह के नीच मन्तव्यों का आरोप लगाते रहे हैं। उन्होंने कांग्रेस विचारधारा की जो सैद्धांतिक आलोचनाएं की हैं उनमें से कितनी ही योग्यतापूर्ण और संगत थीं और समय ने अंशतः उनका समर्थन भी किया है। भारत की आम राजनैतिक स्थिति के उनके कितने ही प्रारम्भिक विश्लेषण बाद में आश्चर्यजनक रीति से सत्य सिद्ध हुए। किंतु जब वे अपने आम सिद्धांतों को छोड़कर विस्तार की बातों में प्रवेश करते हैं—और विशेष रूप से जब वे कांग्रेस के कार्य पर विचार करने बैठते हैं तो बुरी तरह से पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

भारत में साम्यवादियों की कम संख्या और कम प्रभाव का एक कारण यह है कि यहांके साम्यवादियों ने साम्यवाद की वैज्ञानिक जानकारी फैलाने और जनता की विचारधारा को उसके पक्ष में बदलने की चेष्टा करने के बजाय अपना ध्यान ज्यादातर दूसरों को गाली देने पर केन्द्रित रखा है। इसकी उनपर प्रतिक्रिया हुई है और उन्हें बड़ी क्षति पहुंची है। उनमें से अधिकांश लोगों को मजदूरों के बीच काम करने की आदत है, जिन्हें जीतने के लिए अक्सर दोचार नारे ही काफी होते हैं। किंतु पढ़े-लिखे आदमियों पर केवल नारे काम नहीं करते। साम्यवादी लोग इस बात को समझ नहीं पाये हैं कि आज भारत में मध्यम वर्ग के पढ़ेलिखे लोग ही सबसे अधिक क्रांतिकारी हैं। फिर भी साम्यवादियों की इन कट्टरताओं के बावजूद बहुत-से सुशिक्षित लोग साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए हैं। किंतु तब भी दोनों के बीच एक खाई है।

साम्यवादियों का कहना है कि कांग्रेसी नेताओं का लक्ष्य सरकार पर जनता का दबाव डालकर भारतीय पूंजीपतियों और ज़मींदारों के हित में औद्योगिक और व्यावसायिक रियायतें प्राप्त करना रहा है। उनकी राय में कांग्रेस का काम 'किसानों, मध्यम वर्ग के नीची श्रेणी के लोगों और औद्योगिक मजदूरों के आर्थिक और राजनैतिक असंतोष पर साज डाल उसे बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल मालिकों और पूंजीपतियों के रथ में जोतना रहा है।' उनका ख्याल है कि भारतीय पूंजीपति परदे के पीछे बैठे-बैठे कांग्रेस कार्यसमिति को पहले तो एक सार्वजनिक आंदोलन चलाने का आदेश देते हैं और जब वह आंदोलन विशाल तथा संकटजनक रूप धारण कर लेता है तो वे उसे स्थगित करने या गौण बना देने को कहते हैं। इसके अलावा, साम्यवादियों का कहना है कि कांग्रेसी नेता वस्तुतः अंग्रेजों का भारत से जाना नहीं चाहते; क्योंकि भारत की भूखों मरती जनता को नियंत्रण में रखने और उनका शोषण करने के लिए उनकी जरूरत है और भारत के मध्यम श्रेणी के लोग अपने को इस योग्य नहीं समझते।

ताज्जुब की बात है कि योग्य साम्यवादी भी ऐसे भद्दे विश्लेषणों

पर विश्वास करते हैं, किंतु स्पष्ट है कि वे इनमें विश्वास करते हैं, इसलिए उनका भारत में इतना असफल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनकी बुनियादी गलती यह है कि वे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को यूरोपीय मजदूरों के मापदण्ड से नापते हैं और चूंकि मजदूर नेताओं का मजदूर आंदोलन के साथ बराबर धोखा करना उनके लिए कोई नई बात नहीं है, इसलिए वे यही उपमा भारत पर भी लागू करते हैं।...

यह खयाल भी बिलकुल ग़लत है कि सन् १६२१ और १६३० में जनता के दबाव के कारण गांधीजी को ऐसे आंदोलन आरम्भ करने पड़े थे जो बाहर से देखने में आक्रमणकारी मालूम होते थे। यह तो ठीक है कि जनता में उथलपुथल मची हुई थी; किंतु दोनों बार कदम गांधीजी ने ही बढ़ाये। सन् १६२१ में उन्होंने प्रायः अकेले अपने बूते पर कांग्रेस का संचालन किया और उसे असहयोग आंदोलन में संलग्न कर दिया। सन् १६३० में अगर गांधीजी ने जरा भी विरोध किया होता तो सीधी कार्रवाई का कोई आक्रमणात्मक या कारगर आंदोलन कभी सम्भव न होता।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वैयक्तिक ढंग की मूर्खतापूर्ण और अल्प जानकारी पर आधारित आलोचनाएं की जाती हैं। ऐसा करने से ध्यान असली समस्याओं पर से हट जाता है। गांधीजी की सचाई पर आघात करना अपनेआपको और अपने हित को नुक्सान पहुंचाना है, क्योंकि भारत के लाखों सपूतों की आंखों में वह सत्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। जो आदमी उन्हें जरा भी जानता है वह उनकी उस तीव्र लगन से परिचित है जिसके साथ वह सदा सत्य कार्य को करने की चेष्टा करते रहते हैं।

ग्राम-उद्योग और मशीन

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस बहुत दिनों से ग्राम-उद्योगों के पुनरुद्धार का समर्थन करती आई थी—विशेषकर हाथ की कताई और बुनाई का। किंतु कांग्रेस ने कभी बड़े उद्योगों के विकास का विरोध नहीं किया था और जब कभी उसे व्यवस्थापिका सभाओं में या कहीं और मौका

मिला तभी उसने उनकी वृद्धि को प्रोत्साहन दिया था।

तो क्या इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई विरोध है? शायद अन्तर केवल जोर देने में है—कुछ उन मानवी और आर्थिक तथ्यों को समझने में है जिनकी पहले भारत में अपेक्षा की जाती थी। भारत के जिन उद्योग-पतियों और राजनीतिज्ञों ने उनका समर्थन किया था वे १९वीं सदी के यूरोप के पूंजीवादी उद्योगों के विकास से अधिक प्रेरित हुए थे और उसके उन अनेक कुपरिणामों को भूल गये थे जो २०वीं सदी में साफसाफ दिखाई देते थे। भारतवर्ष में पिछले सौ वर्ष से साधारण उन्नति के मार्ग के अवरुद्ध रहने के कारण इन परिणामों का अधिक व्यापक होना अनिवार्य था। प्रचलित आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत भारतवर्ष में जिस तरह के मध्यम कोटि के उद्योगधंधे आरम्भ किये जा रहे थे, वे मजदूरों को अपने में खपा नहीं सके, बल्कि उनसे बेकारी और बढ़ गई। जहां एक छोर पर पूंजी जमा होती रही वहां दूसरे छोर पर गरीबी और बेकारी बढ़ती रही। सम्भव था कि यदि किसी दूसरी प्रणाली को अपनाया जाता, मजदूरों को खपा सकनेवाले बड़े उद्योगों पर जोर दिया जाता और एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाता तो ऐसा न हो पाता।

जनता की इस बढ़ती हुई निर्धनता का गांधीजी पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव पड़ा। मेरी समझ में यह बात ठीक है कि जीवन के संबंध में गांधीजी के दृष्टिकोण में और उस दृष्टिकोण में जिसे हम आधुनिक दृष्टिकोण कह सकते हैं, बुनियादी अंतर है। आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों के विकास के स्थान पर दिन-पर-दिन जीवन-मान में वृद्धि होना और शौकीनी का बढ़ना गांधीजी को मुग्ध नहीं करता। वह कोमल जीवन के पक्षपाती नहीं। उनके लिए सीधा मार्ग ही कठोर मार्ग है। उनकी समझ में शौकीनी के प्रेम के फलस्वरूप जीवन में कुरूपता आजाती है और सद्गुणों का नाश होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गरीबों और धनियों के बीच जो लम्बी-चौड़ी खाई है, उनके रहन-सहन और विकास प्राप्त करने के अवसरों में जो अन्तर है उससे उनके हृदय को आघात लगता है। अपने व्यक्तिगत और मनो-

वैज्ञानिक संतोष के लिए वह इस खाई को पारकर गरीबों की ओर चले गए और थोड़े-बहुत सुधार के साथ, जोकि उन निर्धनों की सामर्थ्य की सीमा में था, उन्होंने उनके रहन-सहन और वेश-भूषा (या यों कहिये कि वेश-भूषा के अभाव) को अपना लिया। कुछ गिने-चुने धनियों और असंख्य निर्धन जनता में यह जो महान् अंतर था, उसके उनकी समझ में दो प्रधान कारण थे—(१) विदेशी राज और उसके साथ का शोषण, और (२) पश्चिमी देशों की पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता जिसकी प्रतिमूर्त्ति बड़ी-बड़ी मशीनें थीं। उनकी प्रतिक्रिया दोनों के विरुद्ध थी। उन्होंने लालसापूर्ण दृष्टि से उस अतीत की ओर देखा जबकि गांव स्वतंत्र और कम या अधिक मात्रा में स्वावलम्बी थे और जहां उत्पादन, विभाजन और उपभोग में स्वाभाविक संतुलन था, जहां राजनैतिक और आर्थिक शक्ति आज की तरह किसी एक स्थल पर केन्द्रीभूत न होकर सर्वत्र फैली हुई थी, जहां एक प्रकार का सरल जनतंत्र प्रचलित था, जहां अमीरों और गरीबों में इतना अधिक अंतर नहीं था, जहां बड़े-बड़े शहरों के दुर्गुण अनुपस्थित थे, जहां लोग जीवनदायिनी भूमि के सम्पर्क में रहते थे और खुले मैदान की खुली हवा में सांस लेते थे।

अतः जीवन के अर्थ के संबंध में गांधीजी और बहुत-से दूसरे लोगों के विचारों में बुनियादी अन्तर था और इस अंतर का गांधीजी की भाषा और क्रियाओं पर प्रभाव पड़ा। उनकी भाषा, जो कि स्पष्ट और ज़ोरदार होती थी, मुख्यतः भारत के किंतु साथ ही अन्य देशों के भी युगों से चले आये धार्मिक व नैतिक सिद्धांतों से प्रेरित होती थी। नैतिक तत्वों का होना अनिवार्य है, साध्य के लिए कभी अयोग्य साधनों का समर्थन नहीं किया जा सकता, नहीं तो व्यक्ति और जाति का सर्वनाश हो जायेगा।

फिर भी वह जीवन और उसकी समस्याओं से अलग किसी स्व-निर्मित स्वप्न-संसार में नहीं बसते थे। उनका जन्म गुजरात में हुआ था, जो दृढ़ विचारवाले व्यापारियों की निवासभूमि है। इसके अलावा, उन्हें भारतीय गांवों और वहांकी जीवन-स्थिति का अद्वितीय ज्ञान था। इसी

व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर उन्होंने चरखा और ग्राम-उद्योगों की योजना बनाई थी। अगर देश के अनगिनत बेकारों और अर्द्ध-बेकारों को फौरन राहत पहुंचानी थी, अगर उस सड़न को, जो सारे देश में फैलती जा रही थी और जनसाधारण को पंगु बनाती जा रही थी, दूर करना था, अगर गांववालों के जीवन-मान को सामूहिक रूप से थोड़ा-बहुत भी ऊपर उठाना था, अगर उन्हें परित्यक्तों की भांति दूसरों से राहत पाने की असहाय प्रतीक्षा में न रखकर आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाना था और अगर यह सब काम बिना पूंजी के होना था तो कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाई देता था। विदेशी राज और शोषण में जो बुराइयां निहित थीं वे तो थीं ही और बड़ी सुधार-योजनाओं को आरम्भ व संचालित करने की स्वतंत्रता का भी अभाव था, किंतु इनके अलावा, भारत की एक और समस्या भी थी—वह थी पूंजी की कमी और मजदूरों की बहुतायत। प्रश्न यह था कि बर्बाद जानेवाले श्रम को अर्थात् उस मनुष्य-शक्ति को जो कुछ भी उत्पन्न नहीं कर रही थी कैसे प्रयोग में लाया जाय? मनुष्य-बल और मशीनों के बल में मूर्खतापूर्ण तुलनाएं की जाती हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि अकेली मशीन एक हजार या दस हजार आदमियों का काम कर सकती है। किंतु यदि वे दस हजार व्यक्ति खाली बैठे रहें या भूखों मरें तो उस मशीन की स्थापना से कोई सामाजिक लाभ नहीं हो सकता, सिवा किसी ऐसी दीर्घकालीन योजना में जिसके लिए सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन आवश्यक है। यदि बड़ी मशीनें न हों तो तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। यह मनुष्य-बल को उत्पादन के काम में लगाने के लिए व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोणों से लाभप्रद होता है। इस व्यवस्था में और बड़े-से-बड़े पैमाने पर मशीनों की स्थापना में कोई विरोध नहीं, बशर्ते कि मशीन मुख्य रूप से मजदूरों को काम में लगाने के उपयोग में आये, न कि नई बेकारी पैदा करने के काम में।

यरवदा जेल में

जिस समय मैं जेल से छूटने की प्रतीक्षा में था, बाहर व्यक्तिगत

सविनय अवज्ञा के रूप में एक नये ढंग का आंदोलन आरम्भ हो रहा था। इसमें भी गांधीजी ने ही पहल करने की ठानी और अधिकारियों को नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानों को सविनय अवज्ञा सिखाने के अभिप्राय से रवाना हुए। वह फौरन कैद कर लिये गये, उन्हें एक साल की सजा हुई और वह यरवदा जेल की अपनी कोठरी में भेज दिये गए। मुझे इससे खुशी हुई, किंतु जल्दी ही एक नई जटिलता उठ खड़ी हुई। गांधीजी ने पहले की ही तरह इस बार भी जेल से हरिजन कार्य करते रहने के लिए सुविधाएं मांगीं, किंतु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। एकाएक हमें सूचना मिली कि इस प्रश्न पर गांधीजी ने अनशन आरम्भ कर दिया है। इतना बड़ा कदम उठाने के लिए यह एक बहुत ही साधारण-सी बात मालूम होती थी। सरकार से उनका तर्क चाहे पूरी तरह से सही क्यों न हो, उनके अनशन करने की बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आई। पर हम कुछ कर नहीं सकते थे और भौचक्के बने केवल प्रतीक्षा करते रहे।

अनशन के एक सप्ताह बाद उनकी अवस्था बड़ी तेजी से गिरने लगी। वह अस्पताल में भेज दिये गए थे, किंतु थे वह तब भी कैदी ही और हरिजन कार्य के लिए सुविधा देने के प्रश्न पर सरकार झुक नहीं रही थी। जीवित रहने की जो आकांक्षा उनमें पहले के उपवासों में थी वह इस बार नहीं रह गई थी और उन्होंने अपने को बिलकुल ढीला छोड़ दिया था। उनका अंत समीप दिखाई देता था। उन्होंने सबसे अंतिम बिदा कही और आसपास पड़ी हुई अपनी निजी चीजें लोगों में बांट दीं और कुछ नर्सों को दे दीं। किंतु सरकार उन्हें अपने हाथों मरने नहीं देना चाहती थी और उसी शाम को वह रिहा कर दिये गए। यह बात ऐन मौके पर आकर हुई। अगर एक दिन की और देर हो गई होती तो शायद उन्हें न बचाया जा सकता। उनकी प्राणरक्षा का बहुत कुछ श्रेय श्री सी. एफ. ऐन्ड्रूज को मिलना चाहिए, जो गांधीजी के मना करने पर भी भागते हुए भारत आये थे।

जेल से छूटने पर जब मैंने भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति का सिंहावलोकन किया तो मुझे बहुत ही कम उत्साह हुआ। माताजी के स्वास्थ्य में सुधार होते ही मैं गांधीजी से मिलने पूना गया। उनसे फिर से मिलकर और यह देखकर कि कमजोरी के बावजूद उनकी अवस्था में संतोषजनक सुधार हो रहा है मुझे बड़ा सुख मिला। मेरी उनकी लम्बी-चौड़ी बातें हुईं। जीवन, राजनीति और अर्थ संबंधी विचारों में मेरा उनसे काफ़ी मतभेद था, किंतु मेरे दृष्टिकोण के यथासाध्य स्वीकार करने में उन्होंने जो उदारता दिखाई उसके लिए मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हुआ। मेरे मस्तिष्क में जो बड़ी-बड़ी समस्याएं उथलपुथल मचा रही थीं उनके संबंध में मेरा उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ था, जो बाद में प्रकाशित कर दिया था। उनमें इन समस्याओं का उल्लेख हुआ तो बड़ी ही अनिश्चित भाषा में, किंतु आम दिशा स्पष्ट थी। मुझे गांधीजी की इस घोषणा से खुशी हुई कि स्वार्थरत हितों को समाप्त करना चाहिए, किंतु यह काम जबरदस्ती से नहीं, बल्कि परिवर्तन द्वारा होना चाहिए। चूंकि मैं जानता था कि उनके हृदय-परिवर्तन के अनेक तरीकों में एक प्रकार की विनीत और नम्र जबरदस्ती ही होती है, मुझे अपने और उनके दृष्टिकोण में कुछ विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। उस समय भी उनके प्रति यही भावना थी कि अनिश्चित सिद्धांतों पर विचार करने के वह चाहे कितने ही विरुद्ध क्यों न हों, वास्तविकता उन्हें धीरे-धीरे अनिवार्य रूप से आधारभूत सामाजिक परिवर्तन की ओर ले जायेगी।

उस समय मैंने सोचा कि अभी तो इसका सवाल ही नहीं उठता। हमारा राष्ट्रीय संघर्ष मंझधार में था और सैद्धांतिक रूप से सविनय अवज्ञा अब भी कांग्रेस का कार्यक्रम था, यद्यपि अब वह व्यक्तियों तक ही सीमित कर दिया गया था। हमें उसी तरह चलते रहकर जनता में—विशेष रूप से कांग्रेस के कुछ अधिक राजनैतिक जाग्रतिवाले कार्यकर्त्ताओं में—समाजवादी विचारधारा का प्रचार करना था, ताकि दूसरी नीति की घोषणा का समय आने पर हम एक उल्लेखनीय प्रगति के लिए तैयार रहें। इस

बीच कांग्रेस एक अवैध संस्था घोषित कर दी गई थी और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने का प्रयत्न कर रही थी। हमें उस प्रहार का सामना करना था।

कांग्रेस से अवकाश

गांधीजी के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी वह एक व्यक्तिगत समस्या थी। वह सोच रहे थे कि खुद उन्हें क्या करना है? वह उलझन में थे। वह सोचते थे कि अगर मैं जेल चला गया तो हरिजन-कार्य के लिए सुविधा का प्रश्न फिर उठेगा जिसपर शायद सरकार झुकेगी नहीं और मुझे फिर से उपवास करना पड़ेगा। तो क्या ये सब बातें ही फिर से दुहराई जायं? उन्होंने ऐसी शिथिल नीति को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कहा कि अगर मैंने इस प्रश्न पर फिर से उपवास किया तो वह रिहाई के बाद भी जारी रहेगा। इसका मतलब था आमरण अनशन।

गांधीजी के सामने दूसरा सम्भव रास्ता यह था कि जबतक सजा की अवधि समाप्त न हो जाय—अभी उसके साढ़े दस महीने और बाकी थे—तबतक वह अपने को फिरसे गिरफ्तार न करावें और हरिजन कार्य में संलग्न रहें। लेकिन साथ ही कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहें व आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सलाह भी दें।

उन्होंने मेरे सामने जो तीसरा सुझाव रखा वह यह था कि वह कुछ समय के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायं और उसे 'नौजवानों' के हाथों में छोड़ दें।

पहला रास्ता, जिसका अंत अनशन द्वारा गांधीजी की मृत्यु में दिखाई देता था, हमारे लिए कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता था। तीसरा रास्ता भी, ऐसे समय में जब कांग्रेस स्वयं एक अवैध संस्था थी, बड़ा अनुचित प्रतीत होता था। उसका नतीजा यह होता कि या तो सविनय अवज्ञा आंदोलन और सब तरह की सीधी कार्रवाइयां फौरन बंद हो जातीं और कांग्रेस को फिर से अपनी पुरानी कानूनी और वैधानिक कार्रवाइयों का

सहारा लेना पड़ता, या एक अवैध और परित्यक्त संस्था बनकर—यहांतक कि गांधीजी द्वारा भी त्यागी जाकर—सरकार द्वारा और भी अधिक कुचली जाती। इसके अलावा यह कब सम्भव था कि कोई एक दल एक ऐसी अवैध संस्था को सम्हालने का भार वहन करता जिसकी न बैठकें हो सकती थीं और न जो किसी नीति पर वादविवाद ही कर सकती थी। इस प्रकार पहले और तीसरे रास्तों को अलग हटाकर हम गांधीजी द्वारा बताये गये दूसरे रास्ते पर पहुंचे। हममें से अधिकांश लोग उसे नापसन्द करते थे और जानते थे कि उससे सविनय अवज्ञा आंदोलन के शेष अंश को बड़ा जबरदस्त धक्का लगेगा। युद्ध के मैदान से सेनापति के हट जाने पर दूसरे उत्साही कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के आगे बढ़कर आग में कूदने की बहुत ही कम सम्भावना थी; किंतु इस झमेले से बाहर निकलने का और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था, इसलिए गांधीजी ने उसीके अनुसार अपनी घोषणा कर दी।

समाजवादियों की आलोचना

बम्बई में मैं कितने ही मित्रों और साथियों से मिला। इनमें से कुछ हाल ही में जेल से छूटकर आये थे। वहां समाजवादी भावना का बोलबाला था और पिछले दिनों जो घटनाएं घटी थीं उनके प्रति कांग्रेस के उच्च वर्ग में बड़ा क्रोध फैला हुआ था। राजनीति को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने के लिए गांधीजी की बड़ी तीव्र आलोचना की जाती थी। इनमें से अनेक बातों से मैं सहमत था; किंतु मैं यह साफ-साफ समझता था कि उस समय की स्थिति में हमारे लिए और कोई विकल्प ही नहीं था और हमें उसी तरह काम करते रहना था। सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने से हमें कोई राहत नहीं मिल सकती थी, क्योंकि सरकार के प्रहार जारी रहते और कोई भी कार्रवाई करने पर जेल जाना पड़ता। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसी स्थिति पर पहुंच गया था जब सरकार द्वारा उसका दबाया जाना लाजिमी हो गया था, नहीं तो वह उसपर अपना अंकुश

जमा लेता। इसका मतलब यह था कि हमारा आंदोलन उस अवस्था को प्राप्त कर चुका था जबकि उसके हर समय अवैध घोषित किये जाने की सम्भावना थी और एक आंदोलन के रूप में उसका, सविनय अवज्ञा को बंद करने पर भी, वापस लिया जाना असम्भव था। अवज्ञा आंदोलन को जारी रखने से कोई व्यावहारिक अंतर नहीं पड़ता। असली महत्त्व तो नैतिक विरोध का था। नये विचारों के प्रचार में जितनी आसानी संघर्ष के समय पड़ सकती थी उतनी संघर्ष के स्थगित कर देने पर और पतन आरम्भ हो जाने पर नहीं। इसलिए संघर्ष का एकमात्र दूसरा विकल्प यह था कि ब्रिटिश सरकार से समझौता कर लिया जाता और कौंसिलों में वैधानिक ढंग से कार्य किया जाता।

स्थिति बड़ी कठिन थी और विकल्प का निश्चय करना आसान नहीं था। अपने साथियों का यह मानसिक संघर्ष मैं खूब समझता था; क्योंकि मुझे स्वयं उनका सामना करना था। किंतु मैंने वहां देखा——जैसा कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में देखा था——कि कुछ लोग उच्च समाजवादी सिद्धांतों को अपनी निष्क्रियता की आड़ बनाना चाहते थे। यह देखकर झुंझलाहट होती थी कि जो लोग स्वयं कुछ नहीं करते थे वे दूसरे लोगों को, जिन्होंने आंधी और तूफान के समय संघर्ष का बोझ अपने कन्धों पर वहन किया था, प्रतिगामी कहकर पुकारते हैं। घर में बैठे-बैठे बातें बनाने वाले ये समाजवादी गांधीजी से विशेष रूप से क्रुद्ध हैं और उन्हें वे सब से बड़ा प्रतिक्रियावादी मानते हैं। वे जो तर्क देते हैं, वे तर्क की दृष्टि से अचूक होते हैं; किंतु असलियत यह है कि जिसे वे प्रतिक्रियावादी कहते हैं वह देश को जानता है, समझता है, स्वयं कृषक-भारत का प्रतीक है और उसने भारत को इतना हिला दिया है, जितना क्रांतिकारी कहे जाने वाले किसी व्यक्ति ने नहीं हिलाया होगा। उनकी हरिजन-सम्बन्धी कार्रवाइयों तक ने कट्टर हिंदू धर्म पर कोमलता के साथ किंतु दृढ़तापूर्वक आघात किया है और उसकी जड़ तक को हिला दिया है। सभी सनातनियों ने उनका मिलकर विरोध किया है और वे उन्हें अपना सब से खतरनाक दुश्मन मानते हैं, यद्यपि

गांधीजी उनके साथ अब भी बड़ी नम्रता और शिष्टता के साथ व्यवहार करते हैं। अपने ढंग पर वह ऐसे शक्तिशाली तत्त्वों का प्रसार करने में निपुण हैं जो पानी की लहरों की तरह फैल जाते हैं और लाखों को प्रभावित करते हैं। वह प्रतिक्रियावादी हों चाहें क्रांतिकारी, उन्होंने देश के रूप को बदल दिया है, भ्रष्ट और चापलूस जनता को गर्व और चरित्र प्रदान किया है, उसमें बल और चेतना फूंकी है और भारतीय समस्या को एक विश्व-समस्या का रूप दिया है। अहिंसात्मक असहयोग या सविनय अवज्ञा आंदोलन के उद्देश्य और आध्यात्मिक परिणामों को तो छोड़ दीजिये, एक पद्धति के रूप में ये दोनों आंदोलन भारत और संसार को गांधीजी की अनोखी तथा शक्तिशाली देन हैं और इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति भारतीय स्थितियों के विशेष अनुकूल रही है।

भारत की प्रतिमूर्त्ति

फिर भी गांधीजी कितने अद्भुत व्यक्ति थे! उनमें कितना विस्मयकारी और प्रबल आकर्षण था और जनता पर उनके कितना विलक्षण अधिकार था उनका! लेखों और भाषणों से उनके भीतर छिपे हुए मानव का बहुत ही कम परिचय मिलता था। इन्हें पढ़ और सुन कर मनुष्य जितना सोच सकता है उससे कहीं विशाल उनका व्यक्तित्व था। और जहां तक भारत के लिए उनकी सेवाओं का सवाल है, वे कितनी महान् रही हैं! उन्होंने देश की जनता में साहस और पौरुष भरा था, अनुशासन और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया था, एक हित के लिए हंसते-मुंह त्याग करने की शक्ति प्रदान की थी और अपनी समस्त नम्रता के बावजूद उसमें गर्व का प्रादुर्भाव किया था। वह कहा करते थे कि साहस चरित्र का एकमात्र निश्चित आधार है, साहस के बिना न कोई नैतिकता है, न धर्म और न प्रेम। "जबतक हम भय के पात्र बने हुए हैं तबतक सत्य या प्रेम का अनुसरण नहीं कर सकते।" हिंसा के लिए अतिशय घृणा होते हुए भी वह हम से कहा करते थे कि कायरता हिंसा से भी अधिक घृणास्पद है। और "अनुशासन

इस बात का संकल्प और इस बात की गारंटी है कि मनुष्य में कार्य करने की लगन है। त्याग, अनुशासन और संयम के बिना कोई मुक्ति नहीं, कोई आशा नहीं। अनुशासन बिना कोरा त्याग निरर्थक है।" आप कह सकते हैं कि ये केवल पवित्र शब्द थे, किंतु इन शब्दों में एक शक्ति थी और भारत इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि यह सूक्ष्म-सा व्यक्ति वास्तविक कार्य करना चाहता है।

गांधीजी भारत का प्रतिनिधित्व एक आश्चर्यजनक सीमा तक करने लगे थे। वह इस पुरातन और संतप्त भूमि की अन्तरात्मा की आवाज बन गये थे। एक प्रकार से वह स्वयं भारत थे और उनकी दुर्बलताएं भारतीय दुर्बलताएं थीं। उनकी उपेक्षा स्वयं उनके लिए तो शायद ही कोई महत्त्व रखती हो; किंतु राष्ट्र के लिए वह अपमान स्वरूप होती थी। जो वाइसराय और दूसरे लोग ऐसे घृणित कार्य करते थे वे यह नहीं समझते थे कि वे कितनी खतरनाक आग से खेल रहे हैं। मुझे याद है कि दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस से लौट रहे थे और पोप ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया था तो इस समाचार से मुझे बड़ी चोट लगी थी। मुझे ऐसा लगा था जैसे वह इन्कार भारत को एक चुनौती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पोप ने जानबूझ कर इन्कार किया था, यद्यपि शायद उसने भारत को चुनौती देने की बात नहीं सोची थी। कैथोलिक मतवाले किसी दूसरे धर्म के साधु या महात्मा को नहीं मानते और चूंकि कुछ प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों ने गांधीजी को एक महान् धार्मिक और एक सच्चा ईसाई कहकर पुकारा था, इसलिए पोप के लिए यह और भी आवश्यक हो गया था कि वह अपने को इस पाखण्ड से अलग रखते।

गांधीजी से इतने वर्षों के घनिष्टतम सम्पर्क के बाद भी मैं उनके लक्ष्य को बिलकुल स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाया हूं। वह स्वयं भी इसे समझते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो बस एक कदम काफी है। वह न तो भविष्य में झांकने का ही प्रयत्न करते हैं, न अपने सामने एक स्पष्ट लक्ष्य ही रखते हैं। वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि

साधन की चिंता रखो, साध्य अपनी चिंता आप कर लेगा। अपने वैयक्तिक जीवन में अच्छे बने रहो, शेष बातें तो आपसे आप हो जायेंगी। यह कोई राजनैतिक या वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं है और न शायद कोई आचार-नीति ही है। उसमें अगर थोड़ी बहुत पुट है तो वह नैतिकता की है। नेकी क्या है? यह एक वैयक्तिक वस्तु है या सामाजिक? गांधीजी सारा बल चरित्र पर देते हैं और बौद्धिक शिक्षण तथा विकास को बहुत ही कम महत्त्व प्रदान करते हैं। चरित्र के बिना बुद्धि के खतरनाक सिद्ध होने की सम्भावना है, किंतु चरित्रहीन बुद्धि क्या है? आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गांधीजी की तुलना मध्य-कालीन ईसाई संतों से की गई है और उनकी बहुत-सी बातें इस तुलना में ठीक भी बैठती हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुभव और पद्धति के साथ वे बिलकुल मेल नहीं खातीं।

पाप और मोक्ष

मैं समझता हूं कि गांधीजी अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में उतने अनि-श्चित नहीं हैं जितने कि वह कभी-कभी दिखाई पड़ते हैं। उनमें एक विशेष दिशा में चलने की उत्कट अभिलाषा है; किंतु वह आधुनिक विचारों और अवस्थाओं से बिलकुल भिन्न है और अभी तक गांधीजी इन दोनों का मेल मिलाने या अपने लक्ष्य तक पहुंचने की समस्त मध्यवर्ती सीढ़ियों की निश्चित रूपरेखा बनाने में सफल नहीं हो पाये हैं। इसीलिए उसमें स्पष्टता का अभाव और अनिश्चितता का आभास मिलता है। फिर भी पिछले २५ वर्षों से अर्थात् उस समय से जब कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-दर्शन की रूपरेखा तैयार करनी आरम्भ की, उनकी विचारधारा की आम दिशा काफी स्पष्ट रही है। मैं यह नहीं कह सकता कि उनके प्रारम्भिक लेख उनके विचारों का अब भी प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः मुझे इसमें सन्देह है कि वे ऐसा पूर्ण रूप से करते हैं। फिर भी वे हमें उनके विचारों की पृष्ठभूमि को समझने में सहायता अवश्य देते हैं।

गांधीजी ने सन् १९०९ में लिखा था—"भारत की मुक्ति इसी में है कि पिछले ५० साल में उसने जो सीखा है उसे भुला दे। रेलवे, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और ऐसे ही अन्य तत्त्वों को नहीं रहना है और तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों को जानबूझ कर और धार्मिक पवित्रता के साथ सरल कृषक जीवन सीखना है और यह जानना है कि यही जीवन सच्चे सुख का देने वाला है।" उन्होंने यह भी लिखा है—"जब-जब मैं रेल के डिब्बे या मोटर-बस में बैठता हूं तब-तब यह अनुभव करता हूं कि जिस वस्तु को मैं ठीक समझता हूं उसके प्रति हिंसा कर रहा हूं।" "संसार को अत्यधिक कृत्रिम और तीव्र साधनों से सुधारने का प्रयत्न करना एक असम्भव बात के लिए प्रयत्न करना है।"

जहां हममें से अधिकांश लोगों को सामाजिक कल्याण का सबसे अधिक ध्यान रहता है, वहां गांधीजी सदा व्यक्तिगत मोक्ष और पाप की बात सोचते हैं। पाप की भावना का मेरी समझ में आना बड़ा मुश्किल है और शायद यही कारण है कि मैं उनके आम दृष्टिकोण को पसन्द नहीं कर पाता। वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नहीं चाहते। वह अपना सारा ध्यान व्यक्ति में से पाप को निकाल बाहर करने में लगाते हैं। उन्होंने लिखा है—"स्वदेशी का अनुयायी अपने सिर पर सारे संसार का सुधार करने का निरर्थक कार्य नहीं लेना चाहता, क्योंकि उसे यह विश्वास है कि यह संसार सदा ईश्वर द्वारा बनाये गये नियमों से संचालित होता है और होगा। वह जो सुधार करना चाहता है वह वैयक्तिक सुधार है। वह अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है और अपने को इन इंद्रियों के भोग में लिप्त होने से, जो कि पाप है, बचाना चाहता है। शायद वह स्वतंत्रता की उस परिभाषा से सहमत होगा जो एक सुयोग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने फासिज्म पर अपने एक लेख में की है—'स्वतंत्रता और कुछ नहीं, बल्कि पाप के बंधन से मुक्त होना है।' ये शब्द उन शब्दों से कितने मिलते-जुलते हैं जो कि लंदन के बिशप (बड़े पादरी) ने आज से २०० वर्ष पहले लिखे थे—'ईसाई धर्म हमें जो स्वतंत्रता देता है वह पाप व शैतान के बंधन से

और मनुष्य की लालसाओं, विषयाकांक्षाओं और अमर्य्यादित इच्छाओं से मुक्ति है।'"

धर्म का क्या अर्थ है?

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि "कोई भी आदमी धर्म के बिना नहीं रह सकता। कुछ आदमी ऐसे होते हैं जो अपने तर्क के अहंकार में यह घोषणा करते हैं कि उनका धर्म से कोई संबंध नहीं, लेकिन यह बात तो उस आदमी के समान हुई जो कहता है कि मैं सांस लेता हूं; लेकिन जिसके नाक नहीं है।" गांधीजी ने यह भी कहा है—"मेरे सत्य-प्रेम ने ही मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींचा है और मैं बिना किसी संकोच के, किंतु पूर्ण नम्रता के साथ कह सकता हूं कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं वे धर्म का मतलब ही नहीं जानते।" शायद ज्यादा सही होता, अगर गांधीजी यह कहते कि जो लोग जीवन और राजनीति से धर्म को दूर रखना चाहते हैं उनमें से अधिकांश 'धर्म' शब्द का वह अर्थ लगाते हैं जो उनके (गांधीजी के) अर्थ से बहुत भिन्न है। स्पष्ट है कि गांधीजी 'धर्म' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं उसका सम्बन्ध और बातों से अधिक नीति तथा सदाचार से है और वह धर्मालोचकों के अर्थ से भिन्न है।

•

जो लोग गांधीजी को स्वयं नहीं जानते और जिन्होंने केवल उनके लेख पढ़े हैं वे साधारणतः यह सोचा करते हैं कि गांधीजी एक पादरी जैसे हैं—अतिशय सनातनी, लम्बे चेहरेवाले कॉल्विनवादी* और उदासीन—"कुछ-कुछ उन पादरियों की तरह जो काले लबादे पहने अपनी ड्यूटी पर घूमा करते हैं।" किंतु उनके लेख उनके प्रति अन्याय करते हैं। जो कुछ भी

---

*इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध प्रोटेस्टेंट सुधारक कॉल्विन (१५०९-६४) के मतावलम्बी

वह लिखते हैं उससे वह कहीं महान् हैं और उनके लेखों का उल्लेख करके उनकी आलोचना करना उचित नहीं है। वह कॉल्विनवादी पादरी-जैसे नहीं, बल्कि उसके बिलकुल विरोधी हैं। उनकी मुसकराहट मनोरम और उनकी हंसी दूसरों को भी हंसानेवाली होती है और वह अपने चारों ओर विनोद का वातावरण फैला देते हैं। उनमें कुछ बच्चों जैसी बात है जो आकर्षण से परिपूर्ण होती है। जब वह किसी कमरे में प्रवेश करते हैं तो अपने साथ ताजी हवा का एक झोंका लेते आते हैं और वहां एक प्रकाश-सा फैला देते हैं।

गांधीजी में एक जबरदस्त आत्मविरोध है। मैं समझता हूं कि सभी विख्यात व्यक्ति कुछ सीमा तक ऐसे ही होते हैं। वर्षों तक मैं इस समस्या में उलझा रहा हूं कि क्या कारण है कि पददलितों के लिए इतना प्रेम और इतनी सहानुभूति रखते हुए भी वह एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं, जो उनको जन्म देती है और पैरों तले कुचलती है? क्या कारण है कि अहिंसा के लिए इतनी तीव्र लगन होने के बावजूद वह ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे का समर्थन करते हैं कि जो पूरी तरह से हिंसा और ज़ोर-जबरदस्ती पर अवलम्बित है? शायद यह कहना ठीक नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। न्यूनाधिक मात्रा में वह एक दार्शनिक अराजकतावादी हैं। किंतु चूंकि आदर्श अराजकता की स्थिति अभी बहुत दूर है और उसकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए वह वर्त्तमान व्यवस्था को स्वीकार कर लेते हैं। मैं समझता हूं कि परिवर्तन के लिए हिंसा के प्रयोग का विरोध वह साधन के दृष्टिकोण से नहीं करते। वर्त्तमान स्थिति को बदलने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली प्रणालियों की बात अगर छोड़ दी जाय तो भी एक ऐसे आदर्श लक्ष्य का निश्चय किया जाना सम्भव है जिसकी उपलब्धि निकट भविष्य में ही हो जाय।

गांधीजी का समाजवाद

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी कहते हैं, किंतु इस शब्द का प्रयोग वह बिलकुल वैयक्तिक रूप में करते हैं जिसका समाज की उस

आर्थिक रूपरेखा से, जो अक्सर समाजवाद के नाम से पुकारी जाती है, कोई संबंध नहीं या बहुत ही कम संबंध है। उनका अनुकरण करते हुए बहुत से प्रमुख कांग्रेस-जन भी इस शब्द का प्रयोग करने लगे हैं, जिससे उनका अर्थ शायद एक तरह की अस्तव्यस्त मानवीयता से है। मैं जानता हूं कि गांधीजी इस विषय से अनभिज्ञ नहीं, क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र और समाजवाद पर यहां तक कि मार्क्सवाद पर भी अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं और इस विषय पर दूसरों से विचार-विनिमय भी किया है। किंतु मुझे इस बात का दिन-पर-दिन अधिक विश्वास होता जा रहा है कि महत्त्वपूर्ण बातों में केवल मस्तिष्क हमारी अधिक सहायता नहीं करता।

गांधीजी में, दक्षिण अफ्रीका के आरम्भिक जीवन में, एक महान् परिवर्तन हुआ जिसने उन्हें बुरी तरह से झकझोर दिया और उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को बिलकुल बदल दिया। उसके बाद से उनके समस्त विचारों का एक निश्चित आधार रहा है। किंतु उनके मन की बातें लोगों को आसानी से नहीं मालूम होतीं। नए सुझाव देनेवाले लोगों को वह अधिक-से-अधिक धैर्य और ध्यान के साथ सुनते हैं, किन्तु उनकी इस शिष्टतापूर्ण दिलचस्पी के बावजूद सुझाव देने वालों को ऐसा मालूम होता है कि मानो वे एक ऐसे व्यक्ति से बातें कर रहे हैं जिस पर कुछ असर ही नहीं होता। कुछ भावनाओं ने उनमें इतनी गहरी जड़ जमा रखी है कि शेष बातें उन्हें महत्त्वहीन प्रतीत होती हैं। उनकी समझ में दूसरी या गौण बातों पर जोर देना प्रमुख योजना पर से ध्यान बंटाना और उसे विकृत करना है। इसके विपरीत असली मुद्दे का सहारा लेने से सभी बातें आपसेआप ठीक हो जाती हैं। यदि साधन ठीक हैं तो साध्य का ठीक होना अनिवार्य है।

मैं समझता हूं कि उनकी विचारधारा की यही प्रधान पृष्ठभूमि है। वह समाजवाद—विशेष रूप से मार्क्सवाद—पर शंका भी करते हैं, क्योंकि उसका हिंसा से साथ है। 'वर्गयुद्ध' शब्द में ही संघर्ष और हिंसा की दुर्गन्ध आती है, इसलिए वह उनके लिए घृणास्पद है। इसके अलावा वह जनता के

जीवन-मान को एक अत्यन्त साधारण क्षमता से आगे बढ़ाना नहीं चाहते, क्योंकि उच्च जीवनमान और अवकाश से वासना तथा पाप की उत्पत्ति हो सकती है। कुछ थोड़े-से सम्पन्न लोगों का ही वासना में फंसना काफी बुरा है, उनकी संख्या को बढ़ाना तो और भी बुरा होगा।

यह दृष्टिकोण समाजवादी या पूंजीवादी दृष्टिकोण से उतना ही भिन्न है जितना किसी अन्य दृष्टिकोण से। हमारा यह कहना कि अगर विशेष हितवाले लोग हस्तक्षेप न करें तो हम आज विज्ञान और औद्योगिक कला की सहायता से सभी लोगों को अन्न, वस्त्र और शरण दे सकते हैं और उनका जीवन-मान बहुत ऊंचा उठा सकते हैं, गांधीजी को अधिक नहीं रुचता, क्योंकि एक निश्चित सीमा से आगे उन्हें इन बातों की चिंता ही नहीं। इसलिए समाजवाद में दिये जाने वाले आश्वासन उन्हें आकर्षित नहीं करते और पूंजीवाद भी उन्हें केवल अंशतः सह्य है, क्योंकि वह बुराई को एक स्थान में केन्द्रित कर देता है। वह दोनों प्रणालियों को नापसन्द करते हैं, किंतु पूंजीवाद को इन दोनों में कम बुरा मानकर उसे अस्थायी रूप से सहन कर लेते हैं। वह एक ऐसी वस्तु है जो आज विद्यमान है और जिसकी विद्यमानता उन्हें स्वीकार करनी ही है।

हो सकता है कि गांधीजी पर इस प्रकार के मन्तव्यों का आरोप करने में मैं भूल कर रहा हूं, किन्तु मैं समझता हूं कि वह निश्चय ही इसी ढंग से विचार करते हैं और उनके भाषणों में जो आत्मविरोध और भ्रम-जाल हमें कष्ट देते हैं उनका असली कारण यह है कि वह एक बिलकुल ही भिन्न सूत्र से विचार करना आरम्भ करते हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग सदा बढ़ते हुए आराम और फुरसत को अपना आदर्श मान लें, बल्कि वह यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, बुरी आदतें छोड़ें, अपने को वासनाओं में कम-से-कम फंसावें और इस प्रकार अपना वैयक्तिक तथा आत्मिक विकास करें। जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं उन्हें जनता को ऊपर उठाने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी स्वयं अपने को। उनके स्तर तक उतारने और उनसे समान आधार पर मिलने-

जुलने की। ऐसा करने में वे उन्हें अनायास थोड़ा-बहुत ऊपर उठा लेंगे। यही उनकी समझ में सच्चा जनतंत्र है। उन्होंने १७ सितम्बर १९३४ को दिये गये अपने एक वक्तव्य में लिखा है—"बहुत-से लोगों ने मेरा विरोध करने में मायूसी प्रकट की है; मेरे लिए यह एक अपमानजनक जानकारी है, क्योंकि मैं जन्म से ही जनतंत्रवादी हूं।"

गांधीजी सदा सामंतशाही राजाओं, बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों की संरक्षकता पर जोर देते रहते हैं। ऐसा करने में वह पूर्ववर्ती धार्मिक व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं। पोप ने कहा है—"धनिकों को चाहिए कि वे अपने को प्रभु के नौकर और साथ ही उसकी दौलत के अभिभावक तथा वितरणकर्त्ता समझें। ईसा ने उन्हींके हाथों में गरीबों का भाग्य सौंपा है।" लोकप्रिय हिंदू-धर्म और इस्लाम भी इसी सिद्धांत को दुहराते हैं और धनिकों से दानी बनने की प्रार्थना करते हैं। धनी लोग इसके बदले में मन्दिर, मस्जिद या धर्मशाला बनवा देते हैं या अपनी बहुल सम्पत्ति में से गरीबों को तांबे और चांदी के सिक्के दे देते हैं और इनके कारण अपने को बड़ा धर्मात्मा मानते हैं।

*

५

पर्ल बन्दरगाह और उसके बाद की आकस्मिक घटनाओं ने देश में एक नई तनातनी पैदा कर दी और एक नया दृश्य उपस्थित कर दिया। तनाव के इस नये वातावरण में कांग्रेस कार्यसमिति की फौरन बैठक बुलाई गई। उस समय तक जापानी बहुत ज्यादा नहीं बढ़े थे, किंतु अनेक बड़ी-बड़ी और विस्मयकारी दुर्घटनाएं घट चुकी थीं। युद्ध अब दूर का दृश्य नहीं रह गया था और भारत की ओर बढ़ता हुआ उसपर भी गहरा प्रभाव डालने लगा था। इस संकटजनक स्थिति में कुछ सार्थक कार्य करने की आकांक्षा कांग्रेसियों में तीव्र हो उठी और नई परिस्थिति में जेल जाने की बात निरर्थक प्रतीत हुई। किंतु जबतक किसी सम्मानपूर्ण सहयोग का रास्ता न खुलता और जनता को क्रियाशील बनाने के लिए किसी निश्चित प्रेरणा का अनुभव न कराया जाता तबतक हम क्या कर सकते थे? केवल बढ़ते हुए संकट का नकारात्मक भय काफी नहीं था।

पहले जो कुछ भी हो चुका था उसके बावजूद हम युद्ध, विशेष रूप से भारत के रक्षा-कार्य, में योग देने को उत्सुक थे, बशर्ते कि एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाय जिसकी सहायता से हम देश के दूसरे तत्त्वों का सहयोग प्राप्त कर सकें और जनता को यह अनुभव करा सकें कि हमारा कार्य एक राष्ट्रीय कार्य है और हमपर हमें दास बनानेवालों द्वारा नहीं लादा गया है। इस व्यापक मसले पर कांग्रेसियों और अधिकांश दूसरे लोगों में भी मतभेद नहीं था, किंतु एकाएक एक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक भेद

उठ खड़ा हुआ। बाहरी युद्ध के सम्बन्ध में भी गांधीजी अहिंसा के अपने बुनियादी सिद्धांत को त्यागने को तैयार नहीं थे। युद्ध की निकटता उनके लिए एक चुनौती और उनके विश्वास के लिए एक कसौटी बन गई। इस अवसर पर असफल होने का अर्थ यह था कि या तो अहिंसा का सिद्धांत और कार्यक्रम उतना व्यापक और आधारभूत नहीं था जितना कि गांधीजी उसे समझते आये थे या उसका त्याग करने या उसके साथ समझौता कर लेने में वह भूल करते थे। वह अपने सम्पूर्ण जीवन के उस विश्वास को नहीं त्याग सकते थे जिसपर कि उनका सारा कार्य आधारित था। उन्होंने महसूस किया कि उन्हें अहिंसा के आवश्यक परिणामों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

यूरोप का युद्ध

इसी तरह की कठिनाई और संघर्ष पहली बार सन् १६३८ में म्यूनिक-संकट के समय उत्पन्न हुई थी, जबकि युद्ध सिर पर खड़ा था। उस समय मैं यूरोप में था और वादविवाद में भाग नहीं ले सका था। किंतु संकट के हटने और युद्ध के स्थगित हो जाने से वह कठिनाई दूर हो गई थी। सितम्बर १६३६ में जब युद्ध सचमुच छिड़ा तो ऐसा कोई सवाल नहीं उठा और न हमने उसपर विचार ही किया। किंतु सन् १६४० की गर्मी के अंतिम दिनों में महात्मा गांधी ने यह बात हमारे सामने फिर से स्पष्ट कर दी कि वह हिंसात्मक युद्ध में भागीदार नहीं बनेंगे और कांग्रेस द्वारा भी ऐसी ही प्रवृत्ति का अपनाया जाना स्वीकार करेंगे। सशस्त्र और हिंसात्मक युद्ध में व्यावहारिक सहायता देने के अलावा वह नैतिक या और दूसरी हर तरह की सहायताएं देने के लिए तैयार थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस यह घोषणा कर दे कि वह स्वतंत्र भारत के लिए भी अहिंसा के ही सिद्धांत का समर्थन करती है। वह जानते थे कि देश में—यहां तक कि कांग्रेस में भी—ऐसे तत्त्व हैं जिनका अहिंसा पर विश्वास नहीं। उन्हें इस बात का भय था कि संभव है, रक्षात्मक प्रश्नों के उठने पर स्वतंत्र

भारत की सरकार अहिंसा के सिद्धांत को त्याग दे और सैनिक, समुद्री तथा हवाई शक्ति की वृद्धि करे। फिर भी वह चाहते थे कि यदि संभव हो तो कांग्रेस कम-से-कम अहिंसा की पताका को ऊंचा उठाये रखे और जनता को शांतिपूर्ण प्रणाली से सोचने तथा कार्य करने की शिक्षा दे। भारत का सैनीकरण होते देखना उन्हें भयावह प्रतीत होता था। वह स्वप्न देखा करते थे कि भारत अहिंसा का प्रतीक और दृष्टांत बनेगा और अपने आदर्श से दूसरे देशों को भी युद्ध तथा हिंसात्मक कार्यों से मुक्त रखेगा। इसलिए वह चाहते थे कि अगर समस्त भारत ने उनके इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं भी किया है तब भी परीक्षा का समय आने पर कांग्रेस को उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।

जहांतक मुझे पता है, सेना या पुलिस के सम्बन्ध में अहिंसा के प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया गया था। यह एक मानी हुई बात थी कि अहिंसा का प्रयोग हमारे स्वतंत्रता-संग्राम तक ही सीमित था। यह सत्य है कि कई रीतियों से अहिंसा ने हमारी विचारशक्ति पर बड़ा प्रबल प्रभाव डाला था और कांग्रेस को विश्व के निश्शस्त्रीकरण का तथा सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शांतिपूर्ण समाधान का समर्थक बना दिया था।

जिन दिनों प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें थीं, कई प्रांतीय सरकारें विश्वविद्यालयों और कालेजों में किसी-न-किसी रूप में सैनिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए उत्सुक थीं, किंतु केन्द्रीय सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया और रास्ते में रोड़े अटका दिये।

कम बुराई

निस्संदेह गांधीजी को ये प्रवृत्तियां मान्य नहीं थीं, किंतु उन्होंने हस्तक्षप नहीं किया। वह तो दंगों को दबाने तक के लिए पुलिस का सशस्त्र प्रयोग पसन्द नहीं करते थे और ऐसी घटना घटने पर दुःख प्रकट किया करते थे। किंतु वह उसे एक न्यूनतर बुराई समझकर सह लेते थे और

आशा करते थे कि क्रमशः उनके उपदेश भारतीय जनता के मस्तिष्क में जड़ जमा लेंगे। कांग्रेस की इन प्रवृत्तियों को नापसन्द करने के कारण ही वह सन् १९३४ के आसपास कांग्रेस की साधारण सदस्यता से भी हट गये, यद्यपि उसके पश्चात भी वह कांग्रेस के असंदिग्ध नेता और सलाहकार बने रहे। हमारे लिए यह एक नियम-विरुद्ध और असंतोषजनक स्थिति थी, लेकिन जहां तक गांधीजी का सवाल है उन्हें शायद यह अनुभूति होती थी कि कांग्रेस के सदस्य न रहने के कारण उनपर कांग्रेस द्वारा समय-समय पर किये जानेवाले उन विभिन्न निर्णयों का, जो उनके सिद्धांतों और विश्वासों से पूरी तरह मेल नहीं खाते थे, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं रह गया। उनमें सदा एक राजनैतिक संघर्ष चलता रहा है और हमारी राष्ट्रीय राजनीति में भी नेता गांधी और मनुष्य गांधी में, जो भारत ही नहीं बल्कि समस्त मानव-जाति और सारे संसार के लिए दैवी संदेश लेकर अवतरित हुआ है, निरन्तर संघर्ष होता रहा है। इस सिद्धांत को स्वीकार करना आसान नहीं कि जीवन—विशेष रूप से राजनैतिक जीवन—की संकट-कालीन आवश्यकताओं और तात्कालिक वांछनीयताओं के अवसर पर भी सत्य का कट्टरता के साथ पालन किया जा सकता है। साधारण रूप से तो लोग इसकी चिंता ही नहीं करते। यदि वे सत्य को अपने जीवन में कोई स्थान देते भी हैं तो उसे मस्तिष्क के किसी कोने में पड़े रहने देते हैं और तात्कालिक वांछनीयता को ही कार्य का आधार मानते हैं। राजनीति में सर्वत्र यही नियम रहा है। इसका एकमात्र कारण यही नहीं है कि राजनीतिज्ञ दुर्भाग्यवश एक विचित्र ढंग के अवसरवादी होते हैं, बल्कि यह भी कि वे शुद्ध वैयक्तिक धरातल पर कार्य नहीं कर सकते। उन्हें दूसरों से काम कराना पड़ता है और इसलिए दूसरों की कमियों का ध्यान रखना पड़ता है और यह भी देखना पड़ता है कि वे सत्य को कहां तक समझ और ग्रहण कर सकते हैं। इसके कारण उन्हें सत्य के साथ समझौता करना पड़ता है और उसे तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है। यह क्रिया अनिवार्य हो जाती है, फिर भी इसके साथ खतरे

लगे रहते हैं। सत्य की अवहेलना और परित्याग की प्रवृत्ति बढ़ जाती है और तात्कालिक वांछनीयता कार्य की एकमात्र कसौटी बन जाती है।

यद्यपि गांधीजी कुछ सिद्धांतों पर चट्टान की तरह अटल रहते हैं, तथापि उन्होंने अपने को दूसरे व्यक्तियों और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित की है। वह दूसरों—विशेष रूप से जनसाधारण—की शक्ति और निर्बलता का ध्यान रखते हैं और यह भी देखते हैं कि उनमें सत्य के अनुसार कार्य करने की कितनी सामर्थ्य है। लेकिन समय-समय पर वह सचेत हो उठते हैं मानो उन्हें इस बात का भय हो गया हो कि उन्होंने लोगों के साथ आवश्यकता से अधिक समझौता कर लिया है और तब वह फिर से अपने सिद्धांतों पर दृढ़ हो जाते हैं। कार्य करते समय वह जनता की विचारधारा से सहमत प्रतीत होते हैं, उसकी सामर्थ्य का ध्यान रखते हैं और इसीलिए कुछ सीमा तक अपने को उसके अनुकूल बना लेते हैं। किंतु कभी-कभी वह अधिक सैद्धांतिक बन जाते हैं और उनकी अपने को दूसरों के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। यही अन्तर उनके कामों और लेखों में दिखाई देता है। इससे खुद उनके अनुयायी भ्रम में पड़ जाते हैं और जो लोग भारत की पृष्ठभूमि को नहीं जानते उनकी तो बात ही क्या!

एक अकेला आदमी जनसाधारण के सिद्धांतों और विचारों पर कहां तक प्रभाव डाल सकता है, यह कहना कठिन है। इतिहास में कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने जनता पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव डाला है; किंतु संभवतः उन्होंने उन्हीं बातों पर जोर दिया है और उन्हीं तथ्यों का दिग्दर्शन कराया है जो कि जनता के मस्तिष्क में पहले से ही थे, या उन्होंने अपने ही युग के अनिश्चित विचारों की स्पष्ट व्याख्या की है। वर्तमान युग की भारतीय विचारधारा पर गांधीजी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। आगे वह कब तक और किस रूप में रहेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है। उनका प्रभाव उन लोगों तक ही सीमित नहीं है जो उनसे सहमत हैं या उन्हें राष्ट्रीय नेता स्वीकार करते हैं। उनका प्रभाव उन लोगों पर भी

पड़ता है जो उनसे असहमत होते हैं और उनकी आलोचना करते हैं। भारत में ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं जो गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत या उनके आर्थिक मतों को पूरी तरह से मानते हों, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जिन पर इन सिद्धांतों और मतों का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। साधारणतः धार्मिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने राजनैतिक और दैनिक जीवन की समस्याओं के नैतिक समाधान पर जोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव तो उन्हीं पर पड़ा है जिनकी उधर प्रवृत्ति थी, किंतु नैतिक दृष्टिकोण ने दूसरों को भी प्रभावित किया है। कितने ही लोगों के नैतिक और सदाचार सम्बन्धी कार्यों का स्तर ऊंचा उठ गया है और उनसे भी अधिक लोगों को कम-से-कम नीति और सदाचार के दृष्टिकोण से सोचने पर विवश होना पड़ा है और यह मानना पड़ा है कि विचार का कार्यों और व्यवहारों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। राजनीति अब केवल समयानुकूलता और अवसरवादिता नहीं रह गई है, जैसी कि वह साधारणतः सभी जगह रही है; बल्कि अब सोचने और कार्य करने से पहले लगातार एक नैतिक संघर्ष चलता रहता है। तात्कालिक वांछनीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अर्थात् जो बात तत्काल संभव और उचित प्रतीत होती है, उसे आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। फिर भी दूसरे कारणों से और दूरवर्ती परिणामों के फलस्वरूप उसकी उग्रता कम हो जाती है।

इन विभिन्न दिशाओं में गांधीजी का प्रभाव सारे भारत में फैल गया है और अपनी छाप छोड़ गया है। किंतु उनके भारत के सर्वप्रमुख और सर्वोच्च नेता बनने का कारण उनका अहिंसात्मक या आर्थिक सिद्धांत नहीं है। भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए वह उस भारत के प्रतीक हैं जिसने स्वतंत्र होने का दृढ़ संकल्प कर रखा है। उसकी नजरों में वह युद्ध के लिए तत्पर राष्ट्रीयता के, अहंकारपूर्ण बल के समक्ष सिर न झुकाने की दृढ़ प्रतिज्ञता के और राष्ट्रीय अपमान की किसी भी घटना को स्वीकार न करने के निश्चय के प्रतीक हैं। भारत के अनेकानेक लोग उनसे सैकड़ों

बातों पर असहमत क्यों न हों, वे उनकी आलोचना क्यों न करते हों और कुछ मसलों पर उनसे पृथक् भी क्यों न हो जाते हों, भारत की स्वतंत्रता की बाजी लग जाने पर कार्य और संघर्ष के समय सब लोग फिर से उन्हें घेर लेते हैं और उनकी ओर अपने अनिवार्य नेता के रूप में निहारते हैं।

अहिंसा का प्रश्न

सन् १९४० में जब गांधीजी ने युद्ध और स्वतंत्र भारत के भविष्य के सम्बन्ध में अहिंसा का प्रश्न उठाया तो कांग्रेस कार्यसमिति ने उसका पूरी तरह से सामना किया। समिति के सदस्यों ने साफ-साफ कह दिया कि जितनी दूर आप हमें ले जाना चाहते हैं उतनी दूर जाने में हम समर्थ नहीं और न हम विदेशी मामलों में अहिंसा के प्रयोग के लिए देश या कांग्रेस को वचनबद्ध ही कर सकते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि इस प्रश्न पर गांधीजी और कार्यसमिति में एक निश्चित और स्पष्ट फूट पड़ गई। दो महीने बाद फिर से विचार-विनिमय करने पर एक सर्वसम्मत युक्ति निकली जिसे बाद में कांग्रेस महासमिति ने अपने एक प्रस्ताव का अंग बना लिया। यह युक्ति गांधीजी की प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। वह तो केवल उस बात का प्रतिनिधित्व करती है जिसका उन्होंने इस सम्बन्ध में कांग्रेस द्वारा कहा जाना बड़ी अनिच्छा के साथ स्वीकार कर लिया था। उस समय तक ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के उस प्रस्ताव को ठुकरा चुकी थी जिसमें उसने राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के आधार पर युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने की तत्परता व्यक्त की थी। किसी-न-किसी तरह का संघर्ष होने वाला था जैसा कि स्वाभाविक था, गांधीजी और कांग्रेस ने एक-दूसरे की तरफ देखा और उनमें आपसी गतिरोध को दूर करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। जो युक्ति सर्वसम्मति से स्वीकार की गई थी उसमें युद्ध का उल्लेख नहीं था; क्योंकि तभी-तभी कांग्रेस का सहयोग प्रस्ताव असम्मान के साथ और पूरी तरह से ठुकरा दिया गया था। उसमें सैद्धांतिक रूप में अहिंसा के सम्बन्ध में कांग्रेस-नीति का

उल्लेख किया गया था और पहली बार बताया गया था कि किस प्रकार कांग्रेस की राय में स्वतंत्र भारत को अपने विदेशी सम्बन्धों में अहिंसा का प्रयोग करना चाहिए। प्रस्ताव का वह भाग इस प्रकार था—

"न केवल स्वराज के संघर्ष के लिए बल्कि जहां तक अमल में आ सकने की संभावना हो, स्वतंत्र भारत के लिए भी कांग्रेस महासमिति अहिंसा की ही नीति और व्यवहार में दृढ़ विश्वास करती है। समिति को इस बात का विश्वास है, और हाल की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने प्रदर्शित कर दिया है कि यदि संसार अपने को विनष्ट करना नहीं चाहता और फिर से पाशविकता की ओर नहीं जाना चाहता तो पूर्ण निश्शस्त्रीकरण और एक नई तथा अधिक न्यायपूर्ण राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है। इसलिए स्वतंत्र भारत अपना सारा जोर निश्शस्त्रीकरण के पक्ष में लगायेगा और इस दिशा में उसे संसार का स्वयं नेतृत्व करने के लिए तैयार रहना चाहिए। निश्चय ही यह नेतृत्व देश की आन्तरिक अवस्था और बाहरी तत्त्वों पर निर्भर होगा, किंतु राज्य निश्शस्त्रीकरण की इस नीति को क्रियात्मक रूप देने के लिए भरसक प्रयत्न करेगा। सफल निश्शस्त्रीकरण के लिए और राष्ट्रीय युद्धों का अन्त करके विश्वशांति की स्थापना करने के लिए युद्ध और राष्ट्रीय संघर्षों के कारणों का दूर किया जाना आवश्यक है। एक देश पर दूसरे देश के प्रभुत्व और एक जाति या दल द्वारा दूसरी जाति या दल के शोषण का अन्त करके इन कारणों को निर्मूल कर देना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत शांति-पूर्वक प्रयत्न करेगा और इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर भारतीय जनता एक स्वतंत्र राष्ट्र का अस्तित्व प्राप्त करना चाहती है। यह स्वतंत्रता विश्व-शांति और विश्व-उन्नति के लिए दूसरे स्वतंत्र देशों के साथ निकट सम्पर्क की भूमिका होगी।"

आप देखेंगे कि इस घोषणा में जहां एक ओर शांतिपूर्ण कार्य और निश्शस्त्रीकरण के लिए कांग्रेस की आकांक्षा का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया गया है वहां दूसरी ओर कितने ही शर्तों पर भी जोर डाला गया है।

दूसरी फूट

कांग्रेस का भीतरी संकट सन् १९४० में दूर हो गया और उसके बाद जो साल आया उसमें कांग्रेसियों की धड़ाधड़ गिरफ्तारियां हुईं। किंतु जब दिसम्बर, १९४१ में गांधीजी ने पूर्ण अहिंसा का आग्रह किया तो फिर वही संकट उत्पन्न हो गया। एक बार फिर लोगों में फूट और मतभेद उत्पन्न हो गया और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद तथा कितने ही दूसरे लोगों ने गांधीजी के दृष्टिकोण को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। स्पष्ट था कि इस मामले में कांग्रेस सामूहिक रूप में गांधीजी से असहमत थी। उसमें गांधीजी के कुछ कट्टर अनुयायी भी शामिल थे। परिस्थितियों और तीव्र वेग से घटनेवाली नाटकीय घटनाओं ने हम सब पर —यहां तक कि गांधीजी पर भी —प्रभाव डाला और यद्यपि उन्होंने कांग्रेस के मत को स्वीकार नहीं किया तथापि उससे अपनी बात मनवाने का आग्रह छोड़ दिया।

इसके बाद गांधीजी ने इस प्रश्न को कांग्रेस में कभी नहीं उठाया। बाद में जब सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपने प्रस्ताव लेकर भारत आये तो अहिंसा का कोई सवाल ही नहीं था। उनके प्रस्तावों पर शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया गया। इसके बाद के महीनों में—अगस्त, १९४२ तक—गांधीजी देशप्रेम और स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर कांग्रेस के युद्ध में शामिल तक होने के लिए तैयार हो गये, बशर्ते कि भारत स्वतंत्र बना दिया जाय। उनके लिए यह एक अद्‌भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन था, जिसके कारण उनके मस्तिष्क और उनकी आत्मा दोनों को पीड़ा हुई। उनकी अन्तरात्मा में अहिंसा के सिद्धांत और भारत की स्वतंत्रता के बीच जो संघर्ष चल रहा था उसमें स्वतंत्रता का पक्ष भारी रहा। अहिंसा उनकी जीवनी-शक्ति थी, उनके जीवन-यापन का अर्थ थी और स्वतंत्रता उनकी सबसे बड़ी, सबसे उत्कट आकांक्षा थी। किंतु स्वतंत्रता की ओर अधिक झुकाव का यह अर्थ नहीं था कि अहिंसा में उनका विश्वास कम हो गया था। हां, इसका यह अर्थ

अवश्य था कि वह इस बात के लिए तैयार हो गये थे कि युद्ध में कांग्रेस अहिंसा का प्रयोग न करे। व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने दृढ़-प्रतिज्ञ देवदूत पर विजय पाई।

युद्ध भारत के निकटतर

युद्ध के भारत के निकट आजाने से गांधीजी बड़े विचलित हुए। इस नई स्थिति के साथ अहिंसा की नीति और कार्यक्रम का मेल मिलाना आसान नहीं था। आक्रमण के लिए आती हुई किसी सेना के सामने या दो विरोधी सेनाओं के बीच सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही क्या हो सकता था? चुप बैठे रहना या आक्रमण को स्वीकार करने का भी कोई प्रश्न नहीं था। तो फिर क्या किया जाय? ऐसे अवसर के लिए कांग्रेस और गांधीजी के अपने साथियों ने भी अहिंसा को अस्वीकार कर दिया था और उसे आक्रमण के सशस्त्र विरोध का विकल्प नहीं माना था। स्वयं गांधीजी ने भी इतना तो मान ही लिया था कि इन्हें ऐसा करने का अधिकार है। फिर भी वह दुःखी थे और व्यक्तिगत रूप से किसी हिंसात्मक कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकते थे। किंतु वह एक व्यक्ति से कहीं अधिक थे। राष्ट्रीय आंदोलन में उन्हें किसी अधिकारी का पद प्राप्त रहा हो या न रहा हो, उसमें उनका स्थान निश्चय ही अद्वितीय और सर्वप्रमुख था और उनके वचनों का बहुत बड़ी जनसंख्या पर प्रभाव पड़ता था।

भारत को—विशेषतः भारत के जनसाधारण को—जितना गांधीजी जानते थे उतना शायद ही किसीने जाना हो या जानता हो। उन्होंने न केवल भारत के कोने-कोने की यात्रा की थी और वह न केवल लाखों के सम्पर्क में आये थे, बल्कि उनमें कोई और भी ऐसी वस्तु थी जिसने उन्हें जनसाधारण के भावपूर्ण सम्पर्क में आने में समर्थ बनाया था। वह अपने को जनता में विलीन कर सकते थे और उसके ही समान अनुभव भी कर सकते थे और चूंकि जनता इससे अनभिज्ञ नहीं थी इसलिए वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति दिखलाती थी। फिर भी उनके भारत संबंधी

विचार कुछ सीमा तक उनके उस दृष्टिकोण के रंग में रंगे हुए थे जो उन्होंने गुजरात में अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में बना लिये थे। गुजराती शांतिप्रिय व्यापारी और सौदागर थे और उनपर जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धांत का प्रभाव था। भारत के दूसरे भागों पर इस सिद्धांत का बहुत कम असर पड़ा था और कुछ पर तो बिलकुल ही नहीं। दूर-दूर तक फैली हुई योद्धा क्षत्रिय जाति ने इस सिद्धांत को युद्ध या जंगली जानवरों के शिकार के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करने दिया था। दूसरी जातियां, जिनमें ब्राह्मण भी शामिल थे, इससे बहुत ही कम प्रभावित हुई थीं। किंतु भारतीय विचारधारा और इतिहास के विकास के संबंध में गांधीजी के विचार स्वतंत्र और अनेक सूत्रों पर आधारित थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि अहिंसा ही इस विकास का आधारभूत सिद्धांत थी, यद्यपि कितनी ही बार उसका अतिक्रमण अवश्य हुआ था। यह दृष्टिकोण एक दूरवर्ती दृष्टिकोण था और कितने ही भारतीय विचारक तथा इतिहासकार इससे सहमत नहीं थे। इसका मानव-जीवन की वर्त्तमान अवस्था में अहिंसा की उपयोगिता से कोई संबंध नहीं था, फिर भी इससे गांधीजी के चिंतन की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का पता लगता था।

भूगोल का अब भी महत्त्व है और भविष्य में भी रहेगा, किंतु अब दूसरे तत्त्वों की उससे भी अधिक महत्ता हो गई है। पर्वत और समुद्र अब बाधक नहीं रह गये हैं, किंतु वे अब भी मनुष्य के चरित्र और देश की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। विभाजन, पृथक्करण या विलय की नई योजनाओं पर विचार करते समय इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, सिवा उस अवस्था में जब ये योजनाएं किसी विश्वव्यापी आधार पर बनाई गई हों।

गांधीजी का भारत और भारतीय जनता का ज्ञान बड़ा गहरा है। यद्यपि उन्हें इतिहास में इतनी रुचि नहीं है और यद्यपि उनमें उस ऐतिहासिक चेतना का अभाव है जो कुछ लोगों में होती है तथापि वह भारतीय जनता के ऐतिहासिक उद्‌गमों के प्रति पूर्णतः सचेत हैं और उन्हें

उनकी निकट जानकारी भी है। सामयिक घटनाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान है और उनका वह सावधानी के साथ अनुशीलन करते हैं, यद्यपि अनिवार्य रूप से अपना ध्यान आजकल की भारतीय समस्याओं पर ही केन्द्रित रख कर निस्सार बातों को छोड़ किसी समस्या या स्थिति के सार को समझ लेने की उनमें अपूर्व क्षमता है। वह सभी चीजों को उनके नैतिक पहलू से जांचते हैं, इसलिए उन्हें ये चीजें विस्तृत रूप में दिखाई दे जाती हैं और वह उन्हें निश्चयपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। बरनार्ड शा ने कहा है कि गांधीजी ने युक्ति संबंधी चाहे कितनी भी भूलें की हों, उनकी आधारभूत युद्ध-नीति अब भी ठीक ही होती है। किंतु अधिकांश लोग दूर की बातें नहीं सोचते। वे उपस्थित क्षण से कुशलतापूर्वक लाभ उठाने में ही ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं।

आजादी की पुकार

भारत में कुछ ऐसे लोग भी थे जो युद्ध को विभिन्न युद्धरत देशों के राजनीतिज्ञों की लघु महत्त्वकांक्षाओं से कहीं बड़ा और व्यापक समझते थे। वे उसकी क्रांतिकारी महत्ता का अनुभव करते थे और इस बात को समझते थे कि युद्ध और उसके परिणाम इस संसार की अंततः सैनिक विजयों और राजनीतिज्ञों के समझौतों व कथनों से कहीं आगे ले जायेंगे। किंतु निश्चय ही ऐसे आदमियों की संख्या बहुत कम थी और जैसा कि दूसरे देशों में भी होता है, अधिकांश लोग इस प्रश्न पर संकीर्ण दृष्टिकोण से विचार करते थे (जिसे वे यथार्थवादी दृष्टिकोण कहते थे) और केवल वर्त्तमान को दृष्टि में रखकर काम करते थे। अवसरवादी प्रवृत्ति के कुछ लोगों ने अपने को ब्रिटिश नीति के अनुकूल बना लिया, जैसा कि वे किसी भी दूसरे अधिकारी या नीति के साथ करते। कुछ लोगों में इस नीति के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने अनुभव किया कि ऐसी नीति के आगे सिर झुकाना भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के हित के साथ धोखा करना है। अधिकांश लोग निश्चेष्ट, निष्क्रिय और मौन पड़े रहे। ये

ही भारतीय जनता की वे पुरानी कमियां थी जिनके विरुद्ध हम इतने दिनों से लड़ते आरहे थे।

जबकि भारतवासियों के मस्तिष्क में यह संघर्ष चल रहा था और निराशा की भावना बढ़ती जा रही थी, गांधीजी ने कई लेख लिखे जिनसे लोगों की विचारधारा को एकाएक नई दिशा मिली या, जैसा कि अक्सर होता है, इन लेखों से उनके अनिश्चित विचारों को एक निश्चित रूप मिला। उस संकटजनक स्थिति में निष्क्रिय रहना या जो कुछ भी हो रहा था उसके आगे सिर झुकाना गांधीजी को असह्य हो गया था। उस स्थिति का सामना करने का एकमात्र उपाय यह था कि भारत की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली जाय और मित्र राष्ट्रों के सहयोग से आक्रमण और युद्ध का मुकाबला किया जाय। इस स्वीकृति के न मिलने पर प्रचलित प्रणाली को चुनौती देने और जिस तंद्रा में पड़कर जनता अशक्त व हर तरह के आक्रमण का आसान शिकार बन गई थी उससे उसे उठाने के लिए कुछ-न-कुछ करना जरूरी था।

यह मांग कोई नई मांग नहीं थी, क्योंकि इसमें वे ही बातें दुहराई गई थीं जो हम सदा से कहते आये थे। किंतु गांधीजी के भाषणों और लेखों में एक नई प्रेरणा और एक नया आग्रह था और था कार्य करने की ओर इशारा। उस समय वह जो कह या लिख रहे थे वही निस्संदेह सारे भारत की भावना थी। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के संघर्ष में विजय राष्ट्रीयता की हुई थी और गांधीजी के नये लेखों ने सारे भारत में हलचल मचा दी। फिर भी वह राष्ट्रीयता कभी अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं रही और सच पूछिये तो अपने में और अन्तर्राष्ट्रीयता में किसी प्रकार मेल-मिलाप का रास्ता ढूंढ़ने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न कर रही थी, बशर्ते कि उसे यह काम सम्मानपूर्वक और कारगर तरीके से करने का अवसर दिया जाता। दोनों में कोई आवश्यक अंतर नहीं था, क्योंकि यूरोप की राष्ट्रीयताओं की तरह उसका ध्येय दूसरों के काम में हस्तक्षेप करना नहीं, बल्कि समान हित के लिए सहयोग करना था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता सच्ची

अन्तर्राष्ट्रीयता का आवश्यक आधार मानी जाती थी और इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीयता तक पहुंचने का मार्ग तथा फ़ासिस्टवाद व नात्सीवाद के विरुद्ध समान संघर्ष में सहयोग देने की वास्तविक नींव समझी जाती थी। इधर जिस अन्तर्राष्ट्रीयता की इतनी चर्चा थी वह साम्राज्यवादियों की पुरानी नीति की भांति एक नये भेष में (बहुत ज्यादा नये नहीं) संदिग्ध दिखाई देने लगी थी। सच पूछिये तो वह स्वयं आक्रमणकारी राष्ट्रीयता थी, जो साम्राज्य या राष्ट्रसमूह या शासनादिष्ट प्रदेश के नाम में दूसरों पर अपनी सत्ता लाद रही थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार

इस नई स्थिति से हममें से कुछ लोग चिंतित और विचलित हुए, क्योंकि काम जबतक कारगर न हो तबतक उसका होना न होना बराबर था; और जो काम कारगर होता उसका—एक ऐसे समय में जब स्वयं भारत पर आक्रमण का खतरा था—युद्ध-प्रयत्न में बाधक होना अनिवार्य था। गांधीजी की विचारधारा में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों की अवहेलना की गई दिखाई देती थी और वह राष्ट्रीयता के संकीर्ण दृष्टिकोण पर आधारित मालूम होती थी। युद्ध के पिछले तीन साल में हमने जानबूझकर तंग न करने की नीति का अनुसरण किया था और अगर वैसा कुछ किया भी था तो केवल सांकेतिक विरोध के रूप में। सन् १९४०-४१ में जब हमारे देश के ३० हजार प्रमुख स्त्री-पुरुष जेलों में ठूंस दिये गये तो इस सांकेतिक विरोध ने विशाल रूप धारण कर लिया। यह जेल-यात्रा भी कुछ चुने हुए व्यक्तियों ने ही की। सामूहिक हलचलें और सरकारी व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की गई। हम इन बातों को दुहरा नहीं सकते थे और इनके अलावा जो कुछ भी करते उसका भिन्न ढंग का और अधिक कारगर होना अनिवार्य था। क्या इससे भारत के सीमांत पर होनेवाले युद्ध में बाधा नहीं पड़ती और दुश्मन को प्रोत्साहन नहीं मिलता?

हमारे सामने ये स्पष्ट कठिनाइयां थीं और उनपर हमने गांधीजी के साथ विस्तारपूर्वक विचार-विनिमय किया, किंतु न हम उन्हें अपने मत के अनुकूल बना सके, न वह हमें अपने मत की ओर खींच सके। कठिनाइयां बनी रहीं और हम कुछ करते या न करते हमें हर स्थिति में संकट दिखाई दे रहा था। अतः हमें उनका संतुलन करना और उनमें से कम बुरे मार्ग को अपनाना था। हमारे पारस्परिक विचार-विनिमय से बहुत-सी बातें, जो पहले अनिश्चित और धुंधली थीं, स्पष्ट हो गई और जिन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों की ओर गांधीजी का ध्यान आकर्षित किया गया उनमें से अनेक को उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें परिवर्तन दिखाई दिया। उन्होंने स्वयं इन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों पर जोर दिया और भारत की समस्या पर एक अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी उनकी बुनियादी प्रवृत्ति बदली नहीं। अंग्रेजों की स्वेच्छाचारी और दमनकारी नीति के सामने निश्चेष्ट भाव से आत्म-समर्पण करने की भावना का विरोध करने तथा उसे चुनौती देने के लिए कुछ करने की उनकी उत्कट अभिलाषा बनी रही। उनका कहना था कि इस समय घुटने टेकने का अर्थ यह होगा कि भारत का आत्मिक बल टूट जायगा और युद्ध चाहे कोई भी रूप धारण करे और उसका चाहे कुछ भी अंत हो, लोग दासों जैसा व्यवहार करने लगेंगे और स्वतंत्रता बहुत समय तक अलभ्य हो जायेगी। इसका एक अर्थ यह भी होगा कि आक्रमणकारी के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और अस्थायी रूप से उसकी सैनिक हार होने या उसके पीछे हटने पर भी हम विरोध जारी नहीं रख सकेंगे। इसका अर्थ जनता का पूर्ण नैतिक पतन और उसके उस बल का ह्रास होगा जो उसने एक-चौथाई सदी तक लगातार स्वतंत्रता-संग्राम लड़ते रहने के बाद अर्जित किया है। इसका यह भी अर्थ होगा कि दुनिया भारत की आजादी की मांग को भूल जायगी और युद्ध के बाद जो समझौता होगा वह पुरानी साम्राज्यवादी प्रेरणाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से प्रभावित होगा। चूंकि गांधीजी की भारत को स्वतंत्र देखने की अभिलाषा बड़ी

उत्कट थी इसलिए भारत उनके लिए केवल एक प्रिय मातृभूमि ही नहीं था; वह संसार के सभी उपनिवेश-निवासियों और पददलितों का प्रतीक था और थी वह कसौटी जिस पर कसकर ही किसी भी विश्वनीति की जांच की जा सकती थी। यदि भारत परतंत्र रहता तो दूसरे उपनिवेश और दास राष्ट्र भी गुलामी की अपनी वर्त्तमान अवस्था में पड़े रहते और युद्ध निरर्थक सिद्ध होता। युद्ध के नैतिक आधार को बदलना आवश्यक था। यह संभव था कि जल, थल और आकाश-सेनाएं अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करती हुईं अधिक श्रेष्ठ हिंसात्मक युक्तियों का प्रयोग कर विजयी बनतीं, लेकिन आखिर उनकी इस विजय का उद्देश्य क्या था? और सशस्त्र युद्ध के लिए भी तो नैतिक समर्थन की आवश्यकता है। क्या नैपोलियन ने यह नहीं कहा था कि 'युद्ध में नैतिक शक्ति और शारीरिक शक्ति का वही अनुपात है जो तीन और एक का?' संसार भर के जो करोड़ों गुलाम और शोषित नर-नारी यह समझते थे कि यह युद्ध वस्तुतः उनकी आजादी के लिए लड़ा जा रहा है, उनका नैतिक विश्वास युद्ध के संकीर्णतर दृष्टि-कोण से भी बड़े महत्त्व का था। आनेवाली शांति के लिए तो उसका अधिक महत्त्वपूर्ण होना स्वाभाविक था ही। युद्ध के अंत का अनिश्चित हो जाना ही एक ऐसी घटना थी जिसके कारण दृष्टिकोण और नीति में परिवर्त्तन आवश्यक हो गया था और जो लाखों व्यक्ति उसकी ओर से उदा-सीन और सशंक हो गये थे उनमें उत्साह भरकर युद्ध का समर्थक बनाना जरूरी था। अगर यह जादू चल सकता तो धुरी राष्ट्रों की सारी सैनिक शक्ति निरर्थक हो जाती और उनका पतन निश्चित हो जाता। इतना ही नहीं, बल्कि धुरी राष्ट्रों में से ही बहुतों की जनता इस विश्वव्यापी शक्ति-शाली भावना से अनुप्राणित हो उठती।

आक्रमणकारी का विरोध

भारत में जनता की उदासीन निश्चेष्टता को विरोध और आत्म-समर्पण न करने की भावना में परिवर्तित करना ही ज्यादा अच्छा था। यद्यपि

आरम्भ में आत्मसमर्पण न करने की इस भावना का लक्ष्य ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारितापूर्ण आदेश ही होते, तथापि बाद में उसका प्रयोग आक्रमणकारी के विरोध में किया जा सकता था। किसी एक के सामने सिर झुकाने और गुलामी स्वीकार करने का परिणाम यह होता कि दूसरों के सामने भी ऐसा ही करना पड़ता और इस प्रकार अपना अपमान और पतन होता।

हम इस प्रकार के सभी तर्कों से परिचित थे। हम उनमें विश्वास करते थे और स्वयं हमने उनका अक्सर प्रयोग भी किया था। किंतु दुःख की बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार की नीति ने इस जादू को पूरा होने से रोक दिया था और भारतीय समस्या को अस्थायी रूप से युद्धकाल तक के लिए भी सुलझाने की हमारी सारी चेष्टाएं असफल हो चुकी थीं और बराबर कहने पर भी ब्रिटिश सरकार ने अपने युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा नहीं की थी। यह निश्चित था कि आगे भी हम इस प्रकार के जो प्रयत्न करेंगे वे निष्फल रहेंगे। तो फिर क्या करना था? अगर हमारे आंदोलन को संघर्ष का रूप लेना था तो नैतिक और दूसरी दृष्टियों से वह चाहे कितना ही उचित क्यों न होता इसमें संदेह नहीं था कि ऐसे समय में जबकि भारत पर आक्रमण का काफी खतरा था उस संघर्ष से भारत के युद्ध-प्रयत्न में काफी हस्तक्षेप होता। हम लोग इस सत्य से बच नहीं सकते थे। फिर भी कितनी अजीब बात थी कि इसी खतरे के कारण हमारे मस्तिष्क में उथल-पुथल हुई थी! हम इन बातों के मौन दर्शक नहीं बन सकते थे और अपने देश को ऐसे व्यक्तियों द्वारा कुप्रबंधित या नष्ट होते नहीं देख सकते थे जो हमारी दृष्टि में अयोग्य और जनता के विरोध के बोझ को वहन कर सकने में बिलकुल असमर्थ थे। हमारी सारी अवरुद्ध शक्ति और स्फूर्ति बाहर निकलने—कुछ कार्य करने—का मार्ग चाहती थी।

गांधीजी बूढ़े होते जा रहे थे। वह सत्तर को पार कर चुके थे और निरंतर कार्य तथा कड़े मानसिक एवं शारीरिक श्रम ने उनकी काया को दुर्बल बना दिया था। किंतु उनमें अब भी पौरुष था और वह महसूस

करते थे कि अगर इस समय मैंने परिस्थितियों के सामने सिर झुका दिया और जिस वस्तु को मैं सबसे बहुमूल्य समझता हूं उसे प्रकाश में लाने के लिए कुछ नहीं करता तो उनके जीवन का सारा कार्य ही निरर्थक हो जायेगा। भारत और सभी दूसरे शोषित देशों की स्वतंत्रता के लिए उनके हृदय में जो प्रेम था उसने उनके कट्टर अहिंसावाद तक पर विजय पाई। पहले जब कांग्रेस ने देश की रक्षा और राज्य के संकटकालीन कार्यों में अहिंसा की नीति का पालन न करने का निश्चय किया था तो गांधीजी ने उसे बड़े अनिच्छा और असंतोष के साथ स्वीकृति दी थी और उससे वह अपने को सदा अलग रखते आये थे। उन्होंने देखा कि इस मामले में इस तरह की द्विविधपूर्ण नीति से ब्रिटेन और अमरीका से समझौता करने में बाधा पड़ेगी। इसलिए उन्होंने और आगे कदम बढ़ाया और कांग्रेस की ओर से खुद एक प्रस्ताव रखा जिसमें इस बात की घोषणा की गई कि स्वतंत्र भारत की अस्थाई सरकार का पहला काम स्वतंत्रता के पक्ष में और आक्रमणकारी कार्यों के विरोध में अपने समस्त महान् साधनों को जुटा देना होगा और अपनी सशस्त्र तथा दूसरी तरह की समस्त शक्तियों से भारत की रक्षा में संयुक्त राष्ट्रों के साथ सहयोग करना होगा। इस प्रकार अपने को वचनबद्ध कर लेना उनके लिए आसान नहीं था, किंतु भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में आक्रमणकारी का विरोध करने में समर्थ बनाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का समझौता कर लेने की उनकी आकांक्षा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने यह कड़वी घूंट पी ही ली।

जो सैद्धांतिक और अन्य भेद हममें से कुछ लोगों को अक्सर गांधीजी से अलग रखते आये थे, उनमें से अधिकांश अदृश्य हो गए। किंतु अब भी यह बड़ी कठिनाई रह ही गई कि हम कोई भी काम करें उससे युद्ध-प्रयत्न में बाधा अवश्य पड़ेगी। हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि गांधीजी तब भी अपने इसी विश्वास पर अटल थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता संभव है और उन्होंने कहा कि इसे पूर्ण करने के लिए वह भरसक प्रयत्न करेंगे। इसलिए यद्यपि वह 'कार्य करो' 'कार्य करो' की रट लगाते रहे

तथापि उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की और न यही संकेत किया कि वह क्या करना चाहते थे।

भारत की मनःस्थिति में परिवर्तन

इस प्रकार जब हम शंका और तर्क-वितर्क कर रहे थे, देश की मनःस्थिति बदल गई और उदासीन निश्चेष्टता के गर्त्त से निकलकर वह उत्तेजना और आशा के क्षेत्र में पहुंच गई। घटनाएं कांग्रेस के निर्णय या प्रस्ताव की प्रतीक्षा में नहीं रहीं, गांधीजी के वक्तव्यों और भाषणों ने उन्हें आगे बढ़ा दिया था और वे अपने ही बल पर आगे बढ़ रही थीं। यह बात स्पष्ट थी कि गांधीजी ठीक हों या गलत, उन्होंने जनता की तत्कालीन मनोदशा को पाषाण जैसा बना दिया था। उसमें एक प्रकार की व्यग्रता थी—एक प्रकार की भावुकतापूर्ण प्रेरणा, जिसने तर्क और विचार-शक्ति को तथा परिणामों पर शांत रूप से विचार करने की आवश्यकता को गौण बना दिया था। इन परिणामों की अवहेलना नहीं की गई और यह बात हमने समझ ली थी कि किसी काम में सफलता मिले या न मिले, मानवीय यातना के रूप में जो कीमत चुकाई जायेगी वह बहुत बड़ी होगी। किंतु मानसिक पीड़ा के रूप में जो कीमत चुकाई जा रही थी वह कम बड़ी नहीं थी और उससे बचने की कोई सूरत नहीं दिखाई दे रही थी। ज्यादा अच्छा यही था कि दुर्भाग्य का कमजोर शिकार बनने की बजाय हम कार्य के अथाह सागर में कूद पड़ें। यह किसी राजनीतिज्ञ का समाधान नहीं था, किंतु एक ऐसे राष्ट्र का समाधान था जो निराशा और परिणामों की ओर से लापरवाह हो गया था। फिर भी विवेक से कार्य किया जा रहा था, संघर्षशील भावनाओं को तर्कसंगत बनाने की चेष्टा की जा रही थी और मानव-चरित्र की बुनियादी असंगतियों में एक प्रकार की संगति ढूंढ़ने का प्रयत्न किया जा रहा था। लड़ाई लम्बी दिखाई देती थी, वह कई सालों तक चलनेवाली थी। कितनी ही बर्बादियां हो चुकी थीं और कितनी ही होनेवाली थीं; किंतु इन सब बातों के बावजूद युद्ध का उस समय

तक चलता रहना अनिवार्य था जबतक कि वे दुर्वासनाएं, जिन्होंने उस युद्ध का जन्म दिया था और जिन्हें स्वयं उस युद्ध ने प्रोत्साहन दिया था काबू में न आ जातीं। इस बार अर्द्ध सफलताएं नहीं मिलनी चाहिए थीं जो अक्सर असफलता से भी अधिक कष्टदायक होती हैं। युद्ध ने सैनिक क्रिया के ही क्षेत्र में नहीं, बल्कि उन अधिक बुनियादी लक्ष्यों के क्षेत्र में भी, जिनके लिए कि युद्ध लड़ा जा रहा था, गलत दिशा ग्रहण कर ली थी। हम जैसा भी कार्य करते उससे शायद बुनियादी लक्ष्यों की असफलता की ओर जबरदस्ती ध्यान आकर्षित हो जाता और वह कार्य उस असफलता को एक नया तथा आशाप्रद रूप प्रदान करने में सहायता देता। और अगर इस समय सफलता न भी मिलती तो उससे आगे चलकर बचाने का ध्येय पूरा होता और इस प्रकार भविष्य में सैनिक कार्रवाई को शक्तिशाली समर्थन प्रदान करने में भी सहायता मिलती।

जनता के साथ-साथ सरकार की भी सरगर्मी बढ़ी। इसके लिए किसी प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि यह तो सरकार की स्वाभाविक सरगर्मी थी, उसके कार्य करने का आम तरीका था——एक गुलाम मुल्क पर सत्ता जमाये बैठी एक विदेशी सरकार का ढंग था। ऐसा मालूम होता था जैसे वह अपनी इच्छा का विरोध करनेवाले इस देश के सभी तत्त्वों को सदा के लिए कुचल देने के इस अवसर का स्वागत कर रही हो और तदनुसार उसने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया।

समझौते के लिए अपील

घटनाचक्र तेजी से चलता रहा। फिर भी ताज्जुब है कि जो गांधीजी इतना कहा करते थे कि हमें कुछ-न-कुछ करना चाहिए जिससे भारत की मर्य्यादा की रक्षा हो और उसे स्वतंत्र बनाने तथा एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में आक्रमण के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई में सहयोग देने का अधिकार मिले, वही इस कार्य की रूपरेखा के संबंध में कुछ नहीं बोले ! कार्य का शांतिपूर्ण होना तो जरूरी था ही, किंतु इसके अलावा ? गांधीजी

ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते की संभावना पर ज्यादा जोर देने लगे और उससे लिखापढ़ी करके समझौते का रास्ता निकालने के लिए अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने की अपनी इच्छा प्रकट करने लगे। कांग्रेस महासमिति के सामने उन्होंने जो अंतिम भाषण दिया था उसमें उन्होंने समझौते के लिए हार्दिक अपील की थी और इस संबंध में वाइसराय से लिखापढ़ी करने के संकल्प की घोषणा की थी। एक बार को छोड़कर उन्होंने न तो सार्वजनिक रूप से और न कांग्रेस कार्यसमिति की बैठकों के भीतर खानगी तौर पर ही इस बात का संकेत किया कि वह जो कार्य सोच रहे हैं उसकी रूपरेखा क्या होगी। निजी तौर पर उन्होंने यह सुझाव रखा था कि अगर समझौते के सभी प्रयत्न निष्फल रहे तो वह किसी किस्म के असहयोग और एक दिन की विरोधात्मक हड़ताल या एक दिन की आम हड़ताल के रूप में सारे देश में काम बंद करने की अपील करेंगे जो कि राष्ट्र के विरोध का संकेत होगा। यह भी एक अनिश्चित-सा ही सुझाव था जिसकी विस्तृत बातें उन्होंने नहीं बताईं; क्योंकि समझौते के लिए चेष्टा किये बगैर वह कोई नई योजना नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने और न कांग्रेस ने ही निजी या सार्वजनिक रूप से किसी प्रकार का निर्देश दिया, सिवा यह कहने के कि जनता को हर तरह की स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए और शांतिपूर्ण तथा अहिंसात्मक कार्य की नीति का पालन करना चाहिए।

यद्यपि गांधीजी को अब भी गतिरोध के दूर होने की कोई सूरत निकल आने की आशा थी, तथापि औरों में यह आशावादिता बहुत ही कम थी। इस बीच जो घटनाएं हुई थीं, वे भी अनिवार्य रूप से संघर्ष की ओर ही इशारा कर रही थीं। ऐसी स्थिति में बीच की बातों का महत्त्व जाता रहता है और प्रत्येक व्यक्ति को यह निश्चय कर लेना पड़ता है कि उसे इधर रहना है या उधर। जहां तक कांग्रेस का सवाल है, उसके जो सदस्य इस दृष्टिकोण से सोचते थे उनके लिए और कोई चारा ही नहीं था। यह बात अकल्पनीय थी कि एक शक्तिशाली सरकार अपने पूरे बल के साथ जनता को कुचलने का प्रयत्न करे और हम लोग उस संघर्ष

को, जिसमें भारत की स्वतंत्रता निहित थी, चुपचाप निश्चेष्ट बने देखते रहें। यह तो सच है कि बहुत-से लोग सहानुभूति रखते हुए भी निश्चेष्ट ही बने रहे, लेकिन अपने पहले के कामों के परिणामों से इस प्रकार बचने का प्रयत्न करना किसी भी प्रमुख कांग्रेसी के लिए लज्जा और अपमान की बात होती। इतने पर भी उनके सामने और दूसरा रास्ता नहीं था। भारत का सारा विगत इतिहास उनकी आंखों के सामने था और वर्त्तमान की पीड़ाएं तथा भविष्य की आशाएं भी प्रत्यक्ष थीं। ये सब बातें उन्हें भविष्य की ओर ढकेल रही थीं तथा उनके कामों को प्रभावित कर रही थीं। बर्गसां ने अपनी 'क्रियेटिव इवोल्यूशन' (रचनात्मक विकास) नामक पुस्तक में लिखा है— "अतीत का अतीत पर जमा होने रहने का क्रम निरंतर चलता रहता है। सच पूछिये तो अतीत अपनेआप और अनायास ही संचित होता रहता है। अपने सम्पूर्ण रूप में वह शायद हमारा हर कदम पर पीछा करता है।....यह तो ठीक है कि विचार करते समय अतीत का एक छोटा भाग ही सामने रहता है, किंतु इच्छा करते समय, संकल्प करते समय और कार्य करते समय हमारा सारा भूत—जिसमें हमारी आत्मा की मौलिक प्रवृत्ति भी शामिल है—हमारे सामने रहता है।"

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

७ और ८ अगस्त, १९४२, को बम्बई में कांग्रेस महासमिति ने सार्वजनिक रूप से उस प्रस्ताव पर विचार किया जो 'भारत छोड़ो आंदोलन' के नाम से पुकारा जाता है। वह एक लम्बा और विस्तृत प्रस्ताव था, जिसमें भारत की स्वतंत्रता को फौरन स्वीकार करने और केवल भारत के ही हित में नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के हित की सफलता के लिए भी भारत से ब्रिटिश राज्य उठा लेने के लिए विचारपूर्ण तर्क दिये गए थे। उसमें कहा गया था कि भारत में ब्रिटिश राज के जारी रहने से भारत का पतन हो रहा है, वह कमजोर बनता जा रहा है और उसकी

अपनी रक्षा करने तथा विश्व-स्वतंत्रता के पक्ष में योग देने की शक्ति दिन-पर-दिन घटती जा रही है।...साम्राज्य का स्वामी बनना शासकों की शक्ति को बढ़ाने के बजाय उनके लिए एक बोझ और एक शाप बन गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद का आदर्श उदाहरण भारत ही सारी समस्या का केन्द्र बन गया है; क्योंकि भारत की स्वतंत्रता की ही कसौटी पर ब्रिटेन और अमरीका परखे जायेंगे और उसीसे एशिया तथा अफ्रीका की जनता को आशा तथा उत्साह प्राप्त होगा। प्रस्ताव में विभिन्न दलों के सहयोग से निर्मित एक ऐसी अस्थायी सरकार की स्थापना का सुझाव रखा गया था जो जनता के सभी प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व करे और जिसका मुख्य कार्य अपनी समस्त सशस्त्र और अहिंसात्मक शक्तियों और मित्रराष्ट्रों के सहयोग से भारत की रक्षा करना तथा आक्रमण का विरोध करना होगा। यह सरकार विधान परिषद् की योजना तैयार करेगी और वह विधान परिषद् भारत के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत किये जाने योग्य विधान बनायेगी। यह विधान एक संघीय विधान होगा जिसकी विभिन्न इकाइयों को अधिक-से-अधिक स्वराज और अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे। "स्वतंत्रता भारत को इस योग्य बना देगी कि वह जनता की संयुक्त इच्छा-शक्ति और बल की सहायता से आक्रमण का सफलतापूर्वक विरोध कर सके।"

प्रस्ताव में कहा गया था कि भारत की यह स्वतंत्रता एशिया के सभी दूसरे देशों की स्वतंत्रता का प्रतीक और भूमिका होनी चाहिए। इसके अलावा सभी स्वतंत्र राष्ट्रों का एक विश्व-संघ बनाने का प्रस्ताव रखा गया था और कहा गया था कि इसका सूत्रपात संयुक्त राष्ट्र करें।

महासमिति ने अपने प्रस्ताव में यह आश्वासन दिया था कि वह चीन और रूस की रक्षा के मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट डालना नहीं चाहती; क्योंकि इनकी स्वतंत्रता कीमती है और उसकी रक्षा अवश्य होनी चाहिए (उस समय सबसे अधिक खतरा चीन और रूस को ही था)। महासमिति ने संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक शक्ति को भी आघात न पहुंचाने

का आश्वासन दिया था, किंतु कहा था—— "लेकिन खतरा इन दोनों देशों के साथ-ही-साथ भारत के लिए भी बढ़ता जा रहा है और इस अवसर पर किसी विदेशी शासक के आगे घुटने टेकने और निश्चेष्ट बने रहने से न केवल भारत का पतन हो रहा है और उसकी अपनी रक्षा करने व आक्रमण का विरोध करने की शक्ति कम होती जा रही है, बल्कि निश्चेष्टता से बढ़ते हुए संकट का सामना करने में कोई भी मदद नहीं मिल सकती और न संयुक्त राष्ट्रों की ही कोई सेवा हो सकती है।"

विश्व-स्वतंत्रता के हित में समिति ने एक बार फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की, किंतु उसने कहा कि "जो साम्राज्य-वादी सरकार भारतीय जनता पर प्रभुत्व जमाये बैठी है और उस जनता को अपने तथा मानवता के हित में कार्य करने से रोकती है उसके खिलाफ़ आत्मबल लगाने से राष्ट्र को रोकना महासमिति अब उचित नहीं समझती। इसलिए यह महासमिति भारत के स्वतंत्र होने के अभिन्न अधिकार को प्रकाश में लाने के लिए गांधीजी के अनिवार्य नेतृत्व में अहिंसात्मक प्रणाली पर जन-संग्राम आरम्भ करने की अनुमति देने का निश्चय करती है।" इस कार्य के आरम्भ करने का समय गांधीजी के निर्णय पर छोड़ दिया गया था और अंत में यह भी बताया गया था कि "महासमिति कांग्रेस के लिए शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहती। वह शक्ति जब आयेगी तो वह भारत की समस्त जनता की शक्ति होगी।"

अपने अंतिम भाषणों में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद ने तथा गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला कदम ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय से मिलना और संयुक्त राष्ट्रों के प्रमुख अधिकारियों से एक ऐसे सम्मानपूर्ण समझौते के लिए अपील करना होगा जिसमें भारत की स्वतंत्रता स्वीकार की गई होगी और जो आक्रमणकारी धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रों के प्रयत्न की हित-वृद्धि करेगा।

यह प्रस्ताव अंतिम रूप से ८ अगस्त, १९४२, को काफ़ी रात गये

पास हुआ। कुछ ही घंटों बाद अर्थात् ९ अगस्त को बड़े तड़के बम्बई में और देशभर में बहुत-सी गिरफ्तारियां की गईं।*

आजादी के बाद

हमारी चिर आकांक्षित स्वतंत्रता हमें मिल गई और कम-से-कम हिंसा के साथ मिल गई; किंतु उसके फौरन बाद ही हमें लहू और आंसुओं के पारावार में से होकर गुजरना पड़ा। उस लहू और उन आंसुओं से भी बुरी वह शर्म थी और वह अपमान था, जिनकी अनुभूति हमें उनके कारण हुई।

हमारे नैतिक सिद्धांत और मापदण्ड उस समय कहां चले गए थे? उस समय हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी मानवीयता और हमारी वह आध्यात्मिकता कहां चली गई थी, जिसका समर्थन भारत इतने दिनों से करता आया था? एकाएक देश पर अंधकार छा गया और लोग पागल हो उठे। भय और घृणा ने हमें अंधा बना दिया और संस्कृति हमें जितने भी संयम के पाठ पढ़ाती है वे सब भुला दिये गए। भयंकरता पर भयंकरता की तह लगती गई और मानवों की क्रूर पाशविकता ने हमें एक आकस्मिक शून्यता से भर दिया। सारा प्रकाश बुझता हुआ प्रतीत हुआ—नहीं, सारा नहीं; क्योंकि उस तूफान के हाहाकार में भी कुछ ज्योतियां टिम-टिमाती हुई दिखाई दीं। जो मर चुके थे और मर रहे थे और जिनकी यातना मृत्यु से भी अधिक कष्टकारी थी उनके लिए हम शोक कर रहे थे। इससे भी अधिक हम शोक कर रहे थे भारत के लिए, जो सबकी माता थी और जिसकी स्वतंत्रता के लिए हम इतने वर्षों से अपना खून और पसीना एक करते आये थे।

सारे प्रकाश बुझते हुए दिखाई दिये; किंतु एक उज्ज्वल ज्योति

---

*गांधीजी ६ मई, १९४४ तक नजरबंद रखे गये। उसके बाद सख्त बीमार हो जाने पर वे रिहा कर दिये गए।
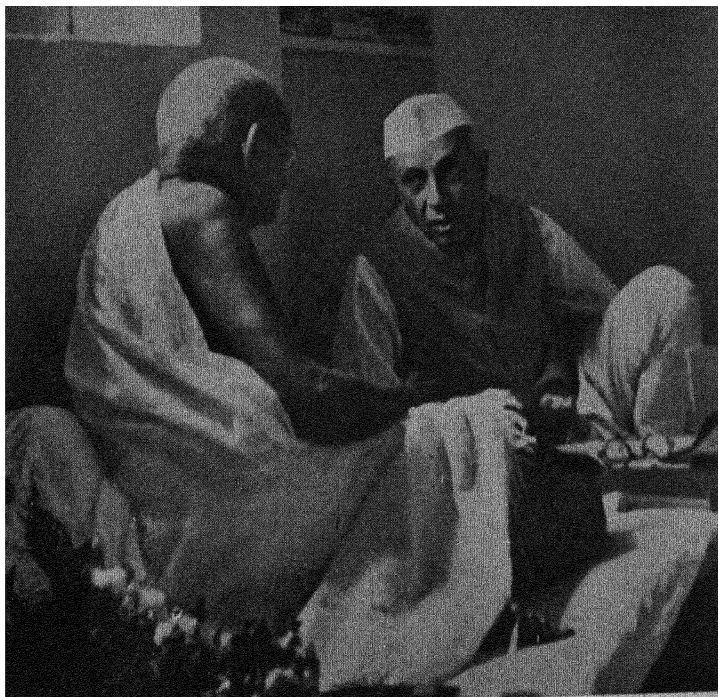
तब भी जलती रही और चारों ओर फैले हुए अंधकार में अपना प्रकाश फैलाती रही। उस पवित्र ज्योति को देखकर हममें शक्ति और आशा का फिर से संचार हुआ और हमने महसूस किया कि हमपर कितनी ही क्षणिक विपदाएं क्यों न पड़ें, भारत की शक्तिमय और अविचलित आत्मा वर्तमान उपद्रवों से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन के छोटे-छोटे संकटों की अवहेलना करती रहेगी।

इस बात को कितने लोग समझते हैं कि इन दिनों महात्मा गांधी की उपस्थिति का भारत के लिए कितना महत्त्व रहा है। पिछले पचास साल या इससे भी ज्यादा से वह देश और स्वतंत्रता के लिए जो महान् सेवाएं करते आए हैं उनसे हम सब परिचित हैं; किंतु जो सेवाएं उन्होंने पिछले चार महीनों में कीं वे निस्संदेह अतुलनीय हैं। इस विनष्ट होते हुए संसार में वह संकल्प की चट्टान और सत्य के आकाशदीप की भांति खड़े रहे हैं और उनकी मन्द किंतु दृढ़ आवाज भीड़ के होहल्ले से ऊपर उठकर सत्कार्य के मार्ग दिखाती रही है।

यह इसी दिव्य-प्रकाश का प्रभाव था कि भारत और भारतीय जनता में हमारा विश्वास नष्ट नहीं होने पाया। फिर भी चारों तरफ छाया हुआ अंधकार स्वयं एक संकट था। जब स्वतंत्रता के सूर्य का उदय हो चुका था तो उस अंधकार ने हमें फिर क्या ग्रसित किया?

इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ रुककर इन आधारभूत तथ्यों पर थोड़ी देर विचार करें; क्योंकि इस समय भारत के भविष्य का निर्माण हो रहा है और यह भविष्य वैसा ही होगा जैसा हमारे लाखों नौजवान स्त्री और पुरुष बनाना चाहते हैं।

युद्ध से शिक्षा

आज हममें संकीर्णता और असहिष्णुता आगई है और साथ ही चेतनता तथा सावधानी का अभाव दिखाई देता है। इन बातों से मुझे भय होता है। अभी-अभी हम एक विश्वव्यापी महासमर में से होकर

गुजर रहे हैं। वह युद्ध हमें शांति और स्वतंत्रता तो नहीं दे सका है; किंतु उससे हम कितनी ही शिक्षाएं ग्रहण कर सकते हैं। जो वस्तु फासिस्टवाद और नात्सीवाद कहकर पुकारी जाती थी उसका उसने संहार किया। ये दोनों ही सिद्धांत संकीर्ण और क्रूर थे और घृणा तथा हिंसा पर आधारित थे। मैंने उनके विकास का उनके जन्मदाता देशों में और बाहर भी अध्ययन किया। कुछ समय के लिए तो उन्होंने जनता की प्रतिष्ठा बढ़ाई; किंतु साथ ही उनकी आत्मा का हनन भी कर दिया और विचार तथा आचार-व्यवहार के समस्त मूल्य और मापदण्ड को नष्ट कर दिया। जिन देशों का वे उत्कर्ष करना चाहते थे उनका अंत में सर्वनाश कर डाला।

आज मैं भारत में भी कुछ ऐसे ही तत्त्व को फलते-फूलते देख रहा हूं। बातें तो वह तत्त्व राष्ट्रीयता के नाम में करता है—कभी-कभी धर्म और संस्कृति की भी दुहाई देता है, किंतु करता है वह राष्ट्रीयता, सच्ची नैतिकता और सच्ची संस्कृति के बिलकुल विपरीत। इस संबंध में यदि किसी को कुछ संदेह था तो पिछले महीनों की घटनाओं ने हमें नग्न सत्य का दिग्दर्शन करा दिया है। कुछ वर्षों से हमें अपने देश के एक सम्प्रदाय की घृणा, हिंसा और संकीर्ण साम्प्रदायिकता को इस नीति के विरुद्ध लड़ते रहना पड़ा है। अब उसे सम्प्रदाय को भारत के ही कुछ हिस्सों में से अपना अलग राज्य बनाने में सफलता मिल गई है।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता, जो भारत की स्वतंत्रता के लिए एक संकट और एक बाधा रही है, अब अपने को एक राज्य कहकर पुकारती है। भारत में एक जीवित प्रेरणा के रूप में आज उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी शक्ति अब दूसरे स्थानों में केन्द्रित हो गई है। किंतु उसने हमारे देश के अन्य वर्गों को पतित बना दिया है, वे उसकी नक़ल करना चाहते हैं और उसमें सुधार तक करने की चेष्टा करते हैं।

भारत में अब हमें इस प्रतिक्रिया का सामना करना है। आज यहां भी साम्प्रदायिक राज्य की पुकार उठाई जाती है, यद्यपि उसके लिए दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाता है। और केवल साम्प्रदायिक राज्य की ही

मांग नहीं उठाई जाती, बल्कि सभी राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में इसी प्रकार की संकीर्ण और घातक मांग उपस्थित की जाती है।

यदि हम भारत के लम्बे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि जब कभी हमारे पूर्वजों ने इस संसार की ओर निर्मल और निर्भय दृष्टि से देखा और अपने मस्तिष्क की खिड़कियों को आदान-प्रदान के लिए खुला रखा तभी उन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति की। बाद में जब उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया और वे अपने को बाहरी प्रभावों से अलग रखने लगे तो भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक अवनति हुई। जिस परम्परा को आज हमने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, वह सचमुच कितनी महान् थी, यद्यपि हमने अक्सर उसका तिरस्कार किया है। बावजूद अपनी विपदाओं और यातनाओं के भारत सदा एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र रहा है और अब भी है। रचनात्मक और निर्माणात्मक क्षेत्रों की उसकी यह महत्ता एशिया के कितने ही और भागों में तथा अन्यत्र फैल गई और सर्वत्र उसकी शानदार विजय हुई। ये विजयें तलवार की नहीं; बल्कि मस्तिष्क और हृदय की थीं जो शांतिदायक और चिरस्मरणीय होती हैं, जब कि तलवार का सहारा लेने वाले आदमी और उनके काम विस्मृत हो जाते हैं। किंतु यदि उसी महत्ता का उचित और रचनात्मक ढंग से प्रयोग न हो तो वह घुन की तरह भीतर-ही-भीतर देश को खाजाती है और उसे नष्ट तथा पतित कर देती है।

अपने संक्षिप्त जीवन में भी हम इन दोनों---रचनात्मक और विनाशात्मक---शक्तियों को केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार में क्रियाशील रूप में देख चुके हैं। अंत में किसकी विजय होगी? और हम किसकी ओर हैं? यह प्रश्न हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए---और विशेष रूप से उन व्यक्तियों के लिए जिनमें से हम अपने नेता चुनते हैं और जिनपर भविष्य का भार निर्भर होता है---एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह सम्भव नहीं कि हम सामने बैठे रहें और समस्या का मुकाबला करने से इन्कार कर दें। यह भी सम्भव नहीं कि आज जबकि स्पष्ट विचार और

प्रभावशाली कार्य की आवश्यकता है, हम अपने मस्तिष्क को दुर्वासना और घृणा के पंक में फंसने दें।

कैसा भारत ?

हम किस तरह के भारत और किस तरह के संसार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं? क्या हमारे भविष्य का निर्माण, घृणा, हिंसा, भय, सांप्रदायिकता और संकीर्ण प्रांतीयता द्वारा होगा? यदि हममें और हमारे पेशे में कणमात्र भी सचाई है तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इलाहाबाद के इस शहर में, जो मुझे केवल इसलिए प्यारा नहीं कि उसके साथ मेरा घनिष्ठ संबंध रहा है, बल्कि इसलिए भी कि उसका भारत के इतिहास में बड़ा महत्त्व है, मेरा बचपन और मेरी युवावस्था भावी भारत के स्वप्न देखने तथा कल्पना करने में ही बीते हैं। इन स्वप्नों में कोई तथ्य था या वे केवल एक उत्तेजित मस्तिष्क की कोरी कल्पनाएं ही थीं? इन स्वप्नों में से कुछ तो सत्य सिद्ध हो चुके हैं; किंतु उस रूप में नहीं जिस रूप में मैंने कल्पना की थी। कितने ही स्वप्न अभी अधूरे हैं और अपनी सफलताओं पर विजय की अनुभूति के बजाय हम अपने चारों ओर फैले हुए शोक पर एक शून्यता और निराशा का अनुभव कर रहे हैं। हमें लाखों की आंखों के आंसू पोंछने हैं।

इसलिए हमें अपने राष्ट्रीय लक्ष्य के संबंध में कोई भ्रान्ति नहीं रहनी चाहिए। हमारा उद्देश्य एक शक्तिशाली, स्वतंत्र और जनतंत्रीय भारत है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान स्थान और विकास व सेवा के लिए समान अवसर प्राप्त होगा, जिसमें आजकल की धन और सामाजिक मर्यादा संबंधी असमानताएं नहीं रह जायेंगी और जहां हमारी प्रमुख प्रेरणाएं रचनात्मक एवं सहयोगात्मक प्रयत्नों में लगी रहेंगी। ऐसे भारत में साम्प्रदायिकता, पृथक्वाद, अलग रहने की नीति, छुआछूत, हठधर्मी और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को कोई स्थान नहीं होगा, उसमें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता होगी और धर्म को राष्ट्रीय जीवन के राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं में हस्तक्षेप नहीं करने दिया जायेगा।

यदि बात ऐसी है तो कम-से-कम राजनैतिक जीवन में हिन्दू और मुसलमान और ईसाई और सिख की चर्चाएं बंद होनी चाहिएं और हमें एक ऐसे संयुक्त तथा सम्मिलित राष्ट्र का निर्माण करना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतंत्रता दोनों ही सुरक्षित होंगी।

हम बड़ी जबरदस्त अग्नि-परीक्षाओं में से होकर गुजरे हैं। हम उन्हें पार तो कर गये हैं, किंतु इसके लिए हमने बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। इन परीक्षाओं ने हमारे उत्पीड़ित मस्तिष्कों और हमारी पंगु आत्माओं पर जो छाप छोड़ी है वह बहुत समय तक नहीं मिटेगी। ये परीक्षाएं अभी समाप्त नहीं हुई हैं। स्वतंत्र और अनुशासनशील व्यक्तियों की तरह हमें इनका मजबूत हृदय और दृढ़ संकल्प के साथ सामना करना चाहिए और न सत्य मार्ग से विचलित होना चाहिए, न अपने आदर्शों और लक्ष्यों को ही भुलाना चाहिए। हमें जख्म भरने का यह कार्य आरम्भ करना है और रचना तथा निर्माण कार्य करना है। भारत की घायल काया और घायल आत्मा पुकार-पुकारकर हमें अपने को इस महान् कार्य में संलग्न कर देने को कह रही है। ईश्वर करे, हम इस कार्य और भारत के योग्य बनें!

६

मित्रो और साथियो, हमारे जीवन से प्रकाश निकल गया और सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है।* मेरी समझ में नहीं आता कि आपसे क्या कहूं और कैसे कहूं। हमारा प्यारा नेता, जिसे हम बापू कहा करते हैं, हमारे राष्ट्र का वह पिता, अब नहीं रहा। शायद मैं ऐसा कहने में गलती कर रहा हूं। फिर भी अब हम उन्हें फिर नहीं देख सकेंगे जैसे कि इतने वर्षों से देखते आये थे। अब हम दौड़े-दौड़े उनके पास सलाह लेने नहीं जायेंगे, उनसे सान्त्वना नहीं पा सकेंगे। यह एक जबरदस्त चोट है—मेरे लिए ही नहीं, बल्कि देश के लाखों-करोड़ों निवासियों के लिए। उस चोट को किसी भी दूसरी सलाह से, जो मैं या कोई भी दूसरा आदमी आपको दे, कम करना कुछ कठिन मालूम होता है।

मैंने कहा कि प्रकाश बुझ गया; लेकिन यह ठीक नहीं; क्योंकि जो प्रकाश इस देश को आलोकित करता था वह कोई साधारण प्रकाश नहीं था। जो प्रकाश देश को इतने वर्षों से आलोकित करता आया है वह उसे अनेक वर्षों बाद भी आलोकित करता रहेगा। आज से हजार वर्ष बाद भी वह प्रकाश भारत में दिखाई देगा; उसे सारा संसार देखेगा और उससे अनगिनत हृदयों को शांति मिलेगी; क्योंकि वह प्रकाश निकट वर्त्तमान

---

* ३० जनवरी, १९४८, को गांधीजी की हत्या के तत्काल बाद आल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली से दिया गया भाषण।

मात्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता था, वह मूर्त्तिमान सत्य का प्रतिनिधित्व करता था—उन अमर सत्यों का जो हमें शुद्ध मार्ग का स्मरण कराते थे, हमें भूल से अलग हटाते थे और इस प्राचीन देश को स्वतंत्रता की ओर ले जाते थे।

यह सब एक ऐसे समय में हुआ जब उन्हें और भी अधिक कार्य करना था। हम यह कभी सोच ही नहीं सकते थे कि वह हमारे लिए अनावश्यक हैं या उनका काम समाप्त हो चुका है। किंतु विशेष रूप से अब जबकि हमारे सामने इतनी सारी कठिनाइयां हैं, उनका हमारे साथ न होना एक भीषण और असहनीय आघात है।

एक पागल व्यक्ति ने उनके जीवन का अंत कर दिया है—जिसने ऐसा किया है उसे मैं पागल ही कह सकता हूं; फिर भी पिछले कुछ वर्षों में देश में बहुत काफ़ी विष फैला है और उस विष ने हमारी जनता के मस्तिष्क पर भी असर किया है। हमें इस जहर का सामना करना चाहिए; उसे जड़मूल से नष्ट कर देना चाहिए। साथ-ही-साथ हमें अपने चारों ओर फैले हुए संकटों का भी सामना करना चाहिए—पागलपन और बुराई के साथ नहीं, बल्कि उस ढंग से जो हमारे प्रिय गुरु ने हमें सिखाया था। इस समय हमें सबसे पहले यह बात याद रखनी है कि हम क्रोध के आवेश में दुर्व्यवहार करने का दुस्साहस न करें। हमें बलवान और दृढ़प्रतिज्ञ लोगों की तरह काम करना है—इस निश्चय के साथ कि हम अपने चारों ओर छाये हुए संकटों का सामना करेंगे, हमारे महान् नेता और हमारे महान् गुरु ने हमें जो आदेश दिया है उसे पूरा करेंगे और सदा यह याद रखेंगे कि यदि उनकी आत्मा हमें देखती और हमें सुनती है—जैसा कि मुझे विश्वास है—तो उसे सबसे ज्यादा दुःख यह देखकर होगा कि हमने कोई तुच्छता या हिंसा का काम किया है।

इसलिए हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम कमजोर बनें, बल्कि यह कि हम ताकत और एकता के साथ अपने सामने आये हुए सारे कष्टों का सामना करें। हमें एक-दूसरे

के साथ मिलकर रहना चाहिए और इस महान् विपत्ति के समय अपनी छोटी-छोटी कठिनाइयों, परेशानियों और मनमुटावों का अंत कर देना चाहिए। बड़ी विपत्तियां हमें संसार की बड़ी-बड़ी बातों को याद रखने और उन छोटी-छोटी बातों को भुला देने का इशारा करती हैं जिनपर हम बहुत काफी सोचविचार कर चुके हैं।

कुछ मित्रों ने यह सुझाव रखा था कि महात्माजी का शव कुछ दिनों के लिए मसाला लगाकर रखा जाय, ताकि देश के लाखों नर-नारी उनके प्रति अपनी अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें; किन्तु गांधीजी ने बारबार इच्छा प्रकट की थी कि ऐसी कोई बात नहीं होनी या की जानी चाहिए। वह अपने शव को मसाले में रखने के बिलकुल खिलाफ थे।

कल का दिन हम सबके लिए उपवास और प्रार्थना का दिन होना चाहिए। जो लोग दिल्ली से बाहर और देश के दूसरे भागों में रहते हैं उन्हें भी अंतिम श्रद्धांजलि भेंट करने के इस काल में यथासम्भव भाग अवश्य लेना चाहिए। उनके लिए भी यह दिन उपवास और प्रार्थना का दिन होना चाहिए। दाह-संस्कार के लिए निश्चित किये गए समय पर, अर्थात् कल तीसरे पहर ४ बजे, सब लोगों को नदियों और समुद्रों के किनारे जाकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना करते समय सबसे बड़ी प्रार्थना जो हम कर सकते हैं वह इस बात का संकल्प करना है कि हम अपने को सत्य और उस हित की सेवा में समर्पित कर देंगे जिसके लिए हमारे देश का यह महान् सपूत जिया और मरा।

विगत गौरव

अपनी व्यक्तिगत हैसियत से और भारत सरकार का प्रधान होने के नाते मुझे इस बात पर घोर लज्जा आती है कि हम अपने सबसे बड़े खजाने को बचाने में असफल रहे। निश्चय ही यह हमारी असफलता है, वैसी ही जैसी पिछले कई महीनों में हमें अनगिनत निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने में मिली है। हो सकता है कि वह भार और वह

काम हमारे लिए या किसी भी सरकार के लिए बहुत बड़ा रहा हो, फिर भी यह एक असफलता है और आज यह बात कि जिस महान् व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में अगाध प्रेम था और सम्मान था वह हमारे बीच से इसलिए उठ गया कि हम उसकी पूरी-पूरी रक्षा नहीं कर सके, हम सबके लिए एक लज्जा की बात है। एक भारतीय होने के नाते मैं इस बात से लज्जित हूं कि एक भारतीय ने उनपर अपना हाथ उठाया; एक हिन्दू होने के नाते मैं शर्मिन्दा हूं कि यह काम एक हिंदू ने किया और एक ऐसे व्यक्ति के साथ किया जो आजका सबसे बड़ा भारतीय और सबसे बड़ा हिंदू था।

हम लोगों की प्रशंसा चुने हुए शब्दों में किया करते हैं और महानता को परखने के लिए हमारे पास कोई-न-कोई कसौटी होती है, किंतु न हम गांधीजी की प्रशंसा कर सकते हैं, न उन्हें परख ही सकते हैं, क्योंकि वह उस साधारण मिट्टी के नहीं बने थे, जिसके हम सब बने हैं। वह आये, काफी लम्बी आयु तक जीवित रहे और चले गए। इस सभा में उनके लिए प्रशंसा के शब्दों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन्हें अपने जीवन में जितनी प्रशंसा मिली थी उतनी इतिहास के किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन में नहीं मिली होगी और उनकी मृत्यु के बाद के इन दो-तीन दिनों में तो उन्हें सारे संसार ने श्रद्धांजलि अर्पित की है। उसमें हम और क्या जोड़ सकते हैं? हम उनकी किस तरह प्रशंसा कर सकते हैं?—हम, जो उनके बच्चे बने रहे हैं, हम जो शायद उनके शरीर से उत्पन्न बच्चों से भी अधिक उनके निकट सम्पर्क में रहे हैं, क्योंकि हम सभी लोग कम या अधिक मात्रा में उनकी आत्मा के बच्चे हैं, और हम जो उनके अयोग्य बच्चे साबित हुए हैं।

एक गौरव था जो कि अब नहीं रहा और वह सूर्य जो हमारे जीवन को गरमी और रोशनी पहुंचाता था अस्त हो गया और हम ठंढ तथा अंधकार में कांप रहे हैं। किंतु गांधीजी कभी नहीं चाहते थे कि इतने गौरव को देख चुकने के बाद हम अपने हृदय में ऐसी अनुभूति को स्थान दें। दैवी ज्योतिवाला वह महापुरुष हमें लगातार बदलता रहा और आज हम जैसे

हैं उसीके ढाले हुए हैं। उस दैवी ज्योति में से हममें से भी बहुतों ने एक चिनगारी ले ली, जिसने हमारी झुकी हुई पीठ सीधी कर दी और हमें कुछ सीमा तक उनके द्वारा निर्मित मार्ग पर चलने के योग्य बनाया। इसलिए यदि हम उनकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी प्रशंसा के शब्द उनके लिए बहुत छोटे मालूम देते हैं और उनकी प्रशंसा करने में कुछ-कुछ अपनी ही प्रशंसा कर बैठते हैं। बड़े-बड़े और प्रसिद्ध लोगों की स्मृति में कांसे या संगमरमर की मूर्त्तियां बनती हैं; किंतु दैवी ज्योतिवाले इस व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में ही लाखों और करोड़ों के हृदय में स्थान पा लिया, जिसके फलस्वरूप हम सब भी कुछ-कुछ उसी धातु के बन गए हैं जिस धातु के वह बने थे, यद्यपि उनसे बहुत ही कम मात्रा में। उनका विस्तार सारे भारतवर्ष में था—केवल महलों या चुनी हुई जगहों या असेम्बलियों में ही नहीं, बल्कि नीचों और पीड़ितों की हर झोंपड़ी और हर कुटिया में। वह लाखों के हृदय में बसते हैं और अनन्त युगों तक बसे रहेंगे।

अतः इस अवसर पर सिर झुकाने के सिवा हम और क्या कह सकते हैं? जिनका हम पूरी तरह से अनुकरण नहीं कर सके, हम उनकी प्रशंसा करने के योग्य नहीं हैं। जबकि वह हमसे अत्यधिक कार्य, श्रम और त्याग करने को कहा करते थे, हमारा उनके लिए कुछ शब्दों भर का प्रयोग करना उनके प्रति अन्याय करना होगा। पिछले तीस साल या उससे कुछ अधिक में उन्होंने भारत को त्याग के उच्च शिखर पर पहुंचा दिया जिसकी बराबरी आजतक कहीं भी नहीं हो सकी है। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली, फिर भी अंत में ऐसी घटनाएं घटीं जिनके कारण उन्हें बड़ी तकलीफ हुई, यद्यपि उनके चेहरे पर से मुसकराहट की एक भी रेखा नहीं मिटने पाई और उन्होंने किसी के प्रति एक भी कठोर शब्द का प्रयोग नहीं किया। फिर भी जिन लोगों को उन्होंने सिखाया-पढ़ाया था उनकी ही कमियों के कारण उन्हें कष्ट अवश्य हुआ होगा। उन्हें यह कष्ट इसलिए सहना पड़ा कि जो मार्ग उन्होंने हमें दिखाया था उससे हम हट गये और अंत में उनके ही एक बच्चे ने उनका अंत कर दिया—निश्चय ही वह भी उनका उतना ही

बच्चा है जितने कि हम।

जिस युग में हम रहते हैं उसका मूल्यांकन इतिहास युगों बाद करेगा। वह इस युग की सफलताओं और असफलताओं का निर्णय करेगा। हम इस युग के इतने निकट हैं कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं इसको न हम समझ सकते हैं न उसके उचित पारखी ही बन सकते हैं। हम केवल इतना जानते हैं कि एक गौरव था जो अब नहीं रहा। हम केवल इतना जानते हैं कि इस समय अंधकार है---फिर भी अधिक गहरा अंधेरा नहीं, क्योंकि जब कभी हम अपने हृदय में झांककर देखते हैं हमें वह ज्योति दिखाई देती है जो हमने वहां जलाई थी। यदि ये जीवित ज्योतियां अक्षुण्ण रहीं तो इस भूमि में कभी अंधकार नहीं होगा और हम गांधीजी के साथ प्रार्थना करते हुए और उनके मार्ग का अनुकरण करते हुए अपने प्रयत्न से इस उनकी भूमि को फिर से आलोकित कर सकेंगे---हम, जो छोटे तो हैं, किंतु जिनमें जलाई हुई ज्योतियां आज भी जल रही हैं। अतीत भारत के वह शायद सबसे बड़े प्रतीक थे। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि वह भावी भारत के भी सबसे बड़े प्रतीक थे। आज हम उसी अतीत और भविष्य के बीच वर्तमान के संकटजनक युग में खड़े-खड़े सभी तरह के संकटों का सामना कर रहे हैं। इनमें सबसे बड़ा संकट विश्वास का अभाव, निराशा की भावना और हृदय तथा आत्मा का वह पतन है जो हममें उस समय उत्पन्न होता है जब हम आदर्शों को ठुकराये जाते देखते हैं, जब हम उन बड़ी-बड़ी बातों को जिनकी हम चर्चा किया करते थे, शून्य शब्दों का रूप लेते देखते हैं और जब हम जीवन को एक दूसरा मार्ग ग्रहण करते पाते हैं। फिर भी मैं विश्वास करता हूं कि यह समय शीघ्र ही बीत जायेगा।

प्रभु का यह प्यारा जितना महान् अपने जीवन में था उससे महत्तर उसकी मृत्यु थी और मुझे इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं कि जिस महान् हित की वह अपने जीवन में सेवा करता आया था, उसकी उसने अपनी मृत्यु से भी सेवा की है। आज हम उस महापुरुष के लिए शोक मनाते हैं; हम उसके लिए सदा शोक मनायेंगे, क्योंकि हम मनुष्य हैं और अपने सम्मान-

नीय गुरु को नहीं भूल सकते; किंतु हम जानते हैं कि वह यह नहीं चाहते कि हम उनके लिए शोक मनावें। अपने निकट-से-निकट और प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति के भी इस संसार से चले जानेपर उन्होंने आंखों से आंसू नहीं बहाये। उनके सामने बस एक दृढ़ संकल्प था—काम करते रहना और जिस हित को उन्होंने चुना था उसकी सेवा में संलग्न रहना। इसलिए यदि हम केवल शोक मनायेंगे तो वह हमसे खुश नहीं होंगे। उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करन का यह एक बहुत ही घटिया तरीका है। उसका एकमात्र तरीका यह है कि हम अपनी दृढ़प्रतिज्ञता की घोषणा करें, नये सिरे से संकल्प लें, इसी तरह से व्यवहार करते रहें और जिस महान् कार्य को उन्होंने अपने कंधों पर लिया था और जिसे उन्होंने बड़ी मात्रा में पूरा कर लिया था उसकी सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दें। हमें काम करना है, हमें मेहनत करनी है, हमें त्याग करना है और कम-से-कम कुछ सीमा तक अपने को उनका योग्य अनुयायी सिद्ध करना है।....

यह घटना, यह दुःखद घटना, किसी एक पागल का काम नहीं है। हिंसा और घृणा के उस वातावरण का फल है जो पिछले कितने ही वर्षों से, और विशेष रूप से पिछले कुछ महीनों से, देश में फैला हुआ है। वह वातावरण आज हमें घेरे हुए है और यदि हमें उस हित की सेवा करनी है जो उन्होंने हमारे सामने रखा था तो हमें इस वातावरण का सामना करना है, इसे रोकना है, इससे युद्ध करना है और घृणा तथा हिंसा के दुर्गुण को निर्मूल करना है। जहां तक इस सरकार का सवाल है, मैं समझता हूं कि वह इसे दूर करने के लिए कोई भी कसर नहीं उठा रखेगी, क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, यदि हम अपनी कमजोरी के कारण या किसी दूसरे ऐसे कारण से जिसे हम पर्याप्त समझते हैं, इस हिंसा को रोकने और वचन, लेख या कर्म द्वारा प्रसारित की जानेवाली घृणा की वृद्धि को नहीं रोकेंगे तो इसका मतलब यह है कि हम इस सरकार में रहने के योग्य नहीं हैं, हम उनके अनुयायी बनने के योग्य नहीं हैं और जो महान् आत्मा चली गई है उसकी प्रशंसा में दो शब्द कहने के योग्य नहीं हैं। इसलिए इस

अवसर पर या जब कभी हमें यह याद आये कि हमारा वह महान् गुरु नहीं रहा तब हमें कार्य, मेहनत और त्याग के आधार पर उनका स्मरण करना चाहिए; हमें यह सोचकर उनका स्मरण करना चाहिए कि जहां कहीं भी बुराई दिखाई देगी वहीं हम उससे संघर्ष करेंगे, सत्य का उसी रूप में अनुगमन करेंगे जिस रूप में उन्होंने उसे हमारे सामने रखा था। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम चाहें कितने भी अयोग्य क्यों न हों, कम-से-कम अपने कर्त्तव्य का पालन कर चुके होंगे और उनकी आत्मा को उचित श्रद्धांजलि अर्पित कर चुके होंगे।

वह चले गये हैं और आज सारे भारत में ऐसा लग रहा है जैसे हम अकेले और अनाथ रह गये हैं। यह भावना हम सबमें है और मैं कह नहीं सकता कि हम उससे कब तक मुक्त हो पायेंगे। इसके अलावा हम परमात्मा के कृतज्ञ भी हैं कि इस महान् व्यक्ति के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य वर्त्तमान पीढ़ी के हम लोगों को ही मिला है। आगे के युगों में—हो सकता है कि सदियों और हजारों वर्ष बाद—लोग इस पीढ़ी की बातें सोचा करेंगे कि प्रभु का यह प्यारा पृथ्वी पर अवतरित हुआ था। वे हमारी भी याद किया करेंगे—हम जो छोटे होते हुए भी उनके मार्ग का अनुगमन कर सके और जिस पवित्र भूमि पर उनके पग पड़े उसपर शायद हम भी चले। हमें उनके योग्य होना चाहिए, सदा उनके योग्य होना चाहिए।*

बापू

सन् १९१६ की बात है—आज से ३२ साल से भी पहले की, जबकि मैंने बापू को पहली बार देखा था। तबसे अबतक एक युग बीत गया। स्वभावतः हम अतीत की ओर देखते हैं और स्मृतियां एक के बाद एक चली आती हैं। भारत के इतिहास में यह भी एक कैसा आश्चर्यजनक काल रहा है। इस युग की कहानी अपनी जय और पराजय के साथ एक

---

* विधान परिषद् में २ फरवरी १९४८ को दिया गया भाषण।

कविता और एक रोमांचकारी कथा-सी लगती है। हमारे नगण्य जीवन में भी उस रोमांच का स्पर्श हुआ है, क्योंकि हम इस काल में रहे हैं और छोटे या बड़े रूप में भारत के महान् नाटक के अभिनेता हैं।

इस काल में सारे संसार में लड़ाइयां, उपद्रव और रोमांचकारी घटनाएं हुईं। फिर भी भारत की घटनाएं इन सबसे विशेष और भिन्न हैं, क्योंकि उनका आधार ही बिलकुल अलग है। यदि कोई व्यक्ति बापू के संबंध में अधिक जाने बिना ही इस काल का अध्ययन करे तो वह ताज्जुब करेगा कि भारत में यह सब कैसे और क्यों हुआ? इसकी व्याख्या करना कठिन है, तर्क के आधार पर यह समझना भी मुश्किल है कि हममें से प्रत्येक आदमी ने ऐसा क्यों किया। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति और एक पूरा-का-पूरा राष्ट्र तक किसी भावना या अनुभूति के बहाव में पड़कर एक विशेष ढंग के कार्य के पास जा पहुंचता है—कभी-कभी वह कार्य श्रेष्ठ किंतु अधिकतः निम्नकोटि का होता है। पर धीरे-धीरे वह भावना और वह अनुभूति समाप्त हो जाती है और वह व्यक्ति जल्दी ही कर्मण्यता और अकर्मण्यता के अपने पुराने स्तर पर आजाता है।

इस काल में भारत की आश्चर्यजनक घटना केवल यही नहीं थी कि सामूहिक रूप से देश का कार्य एक उच्च स्तर पर होता रहा, बल्कि यह भी कि वह कार्य उस स्तर पर प्रायः लगातार बहुत लम्बे समय तक चलता रहा। निस्संदेह यह एक बहुत बड़ी सफलता थी। जबतक हम उस आश्चर्य-जनक व्यक्ति की ओर नहीं देखेंगे जिसने इस युग को सांचे में ढाला, तबतक हम न तो इसे साफ़-साफ़ समझ सकेंगे और न इसकी व्याख्या ही कर सकेंगे। एक महान् मूर्त्ति की तरह वह भारतीय इतिहास से पचास वर्ष आगे खड़े हैं—शरीर से ही महान् नहीं, बल्कि मस्तिष्क और आत्मा से भी महान्।

हम बापू के लिए शोक करते हैं और ऐसा महसूस करते हैं जैसे हम अनाथ हो गये हों। यदि हम उनके भव्य जीवन पर दृष्टिपात करें तो हमें उसमें शोक करने की बात ही क्या दिखाई देगी? इतिहास में निस्संदेह ऐसे बहुत ही कम लोग मिलेंगे जिन्हें अपने जीवन में इतनी सफलता

का सौभाग्य मिला हो। उन्हें हमारी असफलता पर ग्लानि होती थी और वह इस बात से दुःखी थे कि वह भारत को अधिक ऊंचा नहीं उठा सके। वह ग्लानि और वह दुःख बड़ी ही आसानी में समझ में आजाते हैं। फिर भी किसे यह कहने का साहस है कि उनका जीवन असफल था? जिस वस्तु को भी उन्होंने स्पर्श किया उसे ग्रहण करने योग्य और बहुमूल्य बना दिया। उन्होंने जो कुछ भी किया उसका ठोस परिणाम निकला, यद्यपि उतना बड़ा परिणाम नहीं जितना कि वह आशा करते थे। उन्हें देखकर यह भावना होती थी कि ऐसा कोई कार्य नहीं जिसके लिए वह प्रयत्न करें और सफल न हों। गीता के उपदेश के अनुसार उन्होंने फल की चिंता किये बिना ही निर्लिप्त भाव से कार्य किया और इसीलिए उनके कार्य फलीभूत हुए।

उनके लम्बे जीवन में, जो कि कठोर श्रम और क्रियाशीलता तथा साधारण क्षेत्र में ही की गई नूतन साहसिकताओं से परिपूर्ण था, एक भी बेसुरी तान नहीं। उनकी सारी बहिर्मुखी क्रियाएं धीरे-धीरे एक मिश्रित स्वर का रूप धारण करती गईं और उनका एक-एक शब्द, एक-एक इशारा उससे मेल खाता गया और इस प्रकार अनजाने ही वह एक निर्मल कलाकार बन गये। उन्होंने जीने की कला सीखली थी, यद्यपि जिस तरह का जीवन उन्होंने अपनाया था वह संसार के साधारण जीवन से बहुत भिन्न था। यह बात स्पष्ट हो गई कि सत्य और अच्छाई का अनुशीलन करने से और बातों के साथ-साथ जीवन-यापन की यह कला भी मिल जाती है।

जैसे-जैसे वह बूढ़े होते गये वैसे-वैसे उनका शरीर उनके भीतर की महान् आत्मा का एक वाहक मात्र बनता गया। उन्हें सुनते या उन्हें देखते समय लोग उनके शरीर को एक प्रकार से भूल जाते थे। इसलिए वह जहां बैठते थे वह मंदिर बन जाता था और वह जहां चलते थे वह भूमि पवित्र हो जाती थी।

उनकी मृत्यु तक में एक भव्य और पूर्ण कला थी। वह हर तरह की एक उपयुक्त परकाष्ठा थी। सच पूछिये तो उससे उनके जीवन की शिक्षा और भी श्रेष्ठ बन गई। उनकी मृत्यु उस समय हुई जबकि उनकी

शक्तियां अपनी पूर्ण अवस्था में थीं और जब वह प्रार्थना के लिए जा रहे थे—निस्संदेह इसी समय वह स्वयं मरना पसन्द करते। वह उस एकता के लिए शहीद बन गये जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया था और जिसके लिए वह निरंतर श्रम करते आये थे—विशेषतः पिछले एक साल या उससे कुछ पहले से। उनकी मृत्यु एकाएक हुई जैसे कि सभी लोग मरना चाहते हैं। उनके शरीर का कोई ह्रास नहीं हुआ था, उन्हें कोई लम्बी बीमारी नहीं भोगनी पड़ी थी और न उनके मस्तिष्क की चेतना ही मिटी थी जैसा कि अक्सर आयु के साथ हो जाता है। इसलिए हम उनके लिए क्यों शोक मनावें? हम उन्हें एक ऐसे गुरु के रूप में याद करेंगे जिसका कदम अंत तक कोमल था, जिसकी मुसकराहट दूसरों में भी मुसकराहट जगा देती थी और जिसकी आंखें सदा हंसती ही रहती थीं। हम यह कभी नहीं कह सकेंगे कि उनके शरीर या मस्तिष्क ने काम करना बंद कर दिया। वह अपनी शक्ति और अपने अधिकारों की पराकाष्ठा पर पहुंचकर जिये और मरे और हमारे तथा युग के सामने एक ऐसा चित्र छोड़ गये जो कभी मिट नहीं सकता।

वह चित्र कभी धुंधला नहीं पड़ेगा। किंतु उन्होंने इससे भी अधिक किया। वह हमारे मस्तिष्क और हमारी आत्मा के तत्त्व में ही प्रवेश कर गये और उसे बदलकर नये सांचे में ढाल दिया। गांधी-युग तो बीत जायेगा; किंतु वह तत्त्व अक्षुण्ण रहेगा और बाद की प्रत्येक पीढ़ी पर असर करता रहेगा; क्योंकि वह भारत की आत्मा का एक अंग बन गया है। ठीक ऐसे समय में जब इस देश में हममें आत्मिक दुर्बलता आती जा रही थी बापू हमें बलवान बनाने आये और उन्होंने हमें जो शक्ति दी वह एक क्षण या एक दिन या एक वर्ष के लिए नहीं थी, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु थी जो हमारे राष्ट्र की परम्परागत सम्पत्ति में जुड़ गई।

बापू ने भारत ही नहीं बल्कि सारे संसार और हम ग़रीबों के लिए भी एक देव के समान—और वह भी बड़ी सुचारुता के साथ—कार्य किया है। अब हमारी बारी है कि हम उनके साथ और उनकी स्मृति के साथ

धोखा न करें, उनके कार्य को अपनी पूरी योग्यता के साथ जारी रखें और जो प्रतिज्ञाएं हमने बारबार ली हैं उन्हें पूरा करें।*

दो सप्ताह बाद

जिस दुःखद घटना के कारण भारत का सिर युगों तक लज्जा से झुका रहेगा उसे अब दो हफ्ते हो गये। इन दो हफ्तों में हमने शोक मनाया है, आत्म-परीक्षण किया है और हृदय में छिपी हुई प्रबल भावनाएं लाखों की आंखों में बाढ़ की तरह उमड़ी हैं। कितना अच्छा होता कि ये भावनाएं हमारी कमजोरियों और हमारी तुच्छताओं को बहा ले जातीं और जिस गुरु के लिए हम शोक मनाते हैं हमें थोड़ा-बहुत उसके योग्य बना देतीं!

इन दो हफ्तों में संसार के कोने-कोने से श्रद्धांजलियां आई हैं—राजाओं, महाराजाओं और उच्च अधिकारियों से लेकर सभी स्थानों के उन साधारण नर-नारियों तक, जो अनायास उन्हें एक मित्र, एक साथी और एक योद्धा के रूप में देखते थे।

भावों का यह अतिरेक धीरे-धीरे कम हो जायगा, जैसे कि ऐसे सभी भाव हो जाते हैं; किंतु हम फिर से वैसे नहीं हो सकते जैसे पहले थे, क्योंकि वह हमारे शरीर और हमारे मस्तिष्क के तन्तु-तन्तु में घुस गये हैं।

लोग उनके स्मारक के रूप में कांसे या संगमरमर की मूर्त्ति या कीर्ति-स्तम्भ खड़े करने की बातें करते हैं। ये लोग एक प्रकार से उनका उपहास करते हैं और उनके संदेश को झूठा प्रमाणित करते हैं। हम उन्हें ऐसी कौन-सी श्रद्धांजलि दे सकते हैं, जिसे वह पसन्द करते? उन्होंने हमें जीने और मरने का रास्ता बताया है और यदि हमने उनके पढ़ाये हुए इस पाठ को नहीं समझा है तो ज्यादा अच्छा यही होगा कि हम उनकी याद

---

* हरिजन, २ फ़रवरी १९४८।

में कोई स्मारक न खड़ा करें; क्योंकि उनके दिखाये हुए मार्ग का आदरपूर्वक अनुसरण करना और जीवन और मृत्यु में भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही उन्हें सबसे उचित श्रद्धांजलि देनी है।

वह एक हिंदू थे और एक भारतीय। कितनी ही पीढ़ियों से इतना बड़ा हिंदू और इतना बड़ा भारतीय नहीं जन्मा। उन्हें हिंदू तथा भारतीय होने का गर्व भी था। उन्हें भारत प्यारा था; क्योंकि यह देश युग-युगांतर से कुछ स्थिर सत्यों का प्रतिनिधित्व करता आया था। यद्यपि वह बड़े धार्मिक थे और जिस राष्ट्र को उन्होंने पराधीनता से मुक्त किया था उसके पिता कहलाने लगे थे, तथापि उनके विचार किन्हीं संकीर्ण धार्मिक अथवा राष्ट्रीय बंधनों में नहीं बंधे थे। इसलिए वह एक अन्त-र्राष्ट्रीय महापुरुष बन गये। वह मनुष्य-जाति की अनिवार्य एकता में विश्वास करते थे, सभी धर्मों और मानवीय आवश्यकताओं की आधार-भूत एकता के हामी थे और उन्होंने अपनेको सब जगहों के लाखों गरीबों, दुखियों और दलितों की सेवा में विशेष रूप से समर्पित कर दिया था।

जितनी श्रद्धांजलियां गांधीजी के निधन पर अर्पित की गईं उतनी विश्व के इतिहास में शायद ही किसी के निधन पर की गई हों। शायद जो बात उन्हें सबसे अधिक सुख देती वह थी पाकिस्तान-निवासियों के हृदय से अनायास निकली हुई श्रद्धांजलि। उस दुःखद घटना के अगले दिन हम लोग कुछ समय के लिए पिछले कई महीनों की सारी कटुता, सारे बिलगाव और सारे मतभेद को भूल गये और गांधीजी समस्त भारतीय जनता के उतने ही प्यारे योद्धा और नेता बन गये जितने कि वह हमारे जीवित राष्ट्र को टुकड़े करनेवाले विभाजन से पहले थे।

मनुष्य-जाति के हृदय और मस्तिष्क पर उनका इतना गहरा प्रभाव क्यों था? इसका निर्णय तो आने वाले युग करेंगे। हम उनके इतने निकट हैं कि उनके असाधारण एवं नगीने के समान मूल्यवान व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न पहलुओं का मूल्य नहीं आंक सकते। किंतु इतना तो हम भी

समझते हैं कि सत्य उनका सबसे बड़ा उद्देश्य था। उसी सत्य से प्रेरित होकर वह निरन्तर यह घोषणा करते रहते थे कि अच्छे साध्यों की प्राप्ति कभी बुरे साधनों से नहीं हो सकती और बुरे साधनों का प्रयोग करने से साध्य ही विकृत हो जाता है। उसी सत्य का यह प्रभाव था कि जब कभी वह कोई भूल कर जाते थे तो उसे सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेते थे। अपनी कुछ भूलों को तो वह हिमालय जैसी बड़ी भूलें मानते थे। उसी सत्य का यह भी प्रभाव था कि उन्हें जहां कहीं भी बुराई और असत्य दिखाई देता था वहीं वह परिणाम की चिंता किये बिना ही उससे लड़ने लगते थे। उस सत्य के कारण निर्धनों और निर्वासितों की सेवा करना उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था; क्योंकि जहां कहीं भी असमानता, भेदभाव और दमन है वहीं अन्याय, बुराई और असत्य का निवास है। इसलिए जिन लोगों ने सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों के कारण दुःख उठाये थे उनके वह प्रिय बन गये और साथ ही मानवता के--जैसी कि वह होनी चाहिए--एक महान् प्रतिनिधि बन गये।

उनका भौतिक शरीर हमें छोड़कर चला गया और अब हम उसे नहीं देख सकेंगे ; उनके मृदु स्वर को अब नहीं सुन सकेंगे या उनके पास परामर्श के लिए नहीं भाग सकेंगे। किंतु उनकी अमर स्मृति और उनका अमर संदेश हमारे साथ हैं। हम उनका सम्मान कैसे कर सकते हैं और अपने जीवन को कैसे उनके अनुकूल बना सकते हैं?

वह भारत को एकता के सूत्र में बांधनेवाले एक महापुरुष थे। उन्होंने हमें केवल दूसरों को सहन करना ही नहीं सिखाया, बल्कि उन्हें एक समान हित में मित्रों और साथियों की तरह स्वेच्छापूर्वक अपनाना भी सिखाया। उन्होंने हमें अपने तुच्छ स्वार्थों और ईर्ष्याओं से ऊपर उठना सिखाया और दूसरों में अच्छाइयां देखना बताया। उनके जीवन के कुछ अन्तिम महीनों और स्वयं उनकी मृत्यु ने विशाल सहिष्णुता और एकता के इस संदेश को हमारे सामने मूर्त्तिमान कर दिया था। उनकी मृत्यु से कुछ ही समय पहले हमने उनके सामने इसका संकल्प किया था। हमें उस संकल्प

का पालन करना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि भारत की भूमि यहां रहने वाले सब धर्मावलम्बियों की समान रूप से मातृभूमि है। पूर्वजों से प्राप्त की गई संपत्ति में उनका बराबर-बराबर का साझा है और उनके अधिकार तथा उनके उत्तरदायित्व भी समान हैं। हमारा राष्ट्र विभिन्न जातियों और धर्मों का एक सामूहिक राष्ट्र है जैसे कि सभी बड़े राष्ट्रों का होना जरूरी है। दृष्टिकोण को संकीर्ण बनाना या इस महान् देश की सीमाओं को संकुचित करना बापू के अन्तिम उपदेश के साथ धोखा करना होगा और वह निस्संदेह हमें विपत्ति की ओर लेजायगा और हम अपनी उस स्वतंत्रता को खो बैठेंगे जिसके लिए उन्होंने परिश्रम किया और जिसे हमारे लिए बहुत अंश में प्राप्त भी कर दिया।

भारत के जिन साधारण नर-नारियों ने अतीत में इतना कष्ट सहा है उनकी सेवा भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। उनकी मांगें सर्वोपरि रहनी चाहिएं और उनके उत्थान के मार्ग में जो कुछ भी आता है वह गौण होना चाहिए। नैतिकता और मानवीयता के दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि साधारण राजनैतिक सूझबूझ के दृष्टिकोण से भी जनता के जीवनमान को उठाना और उन्हें उन्नति के लिए समान अवसर प्रदान करना आवश्यक हो गया है।*

'महात्मा गांधी की जय'

(१२ फरवरी १९४८ को प्रयाग में त्रिवेणी-संगम पर पूज्य बापू के अस्थि-विसर्जन के बाद दिया गया भाषण। यह भाषण आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से मूल हिन्दी में ही प्राप्त हुआ है।)

आखिरी सफर खतम हुआ, अन्तिम यात्रा समाप्त हो गई। ५० वर्ष से ऊपर हुआ, महात्मा गांधी ने हमारे इस देश में बहुत चक्कर लगाये। हिमालय से, सीमाप्रांत से, ब्रह्मपुत्र से लेकर कन्याकुमारी तक सारे

* आल इंडिया रेडियो पर १४ फरवरी १९४८ को दिया गया भाषण।

प्रांतों में, सारे देश के हिस्सों में घूमे। खाली तमाशा देखने के लिए नहीं जाते थे, बल्कि जनता की सेवा करने के लिए, जनता को पहिचानने के लिए। और शायद कोई भी हिंदुस्तानी नहीं होगा जिसने इतना, इस भारत देश में, भ्रमण किया हो, इतना यहां की जनता को पहिचाना हो, और जनता की इतनी सेवा की हो। तो उनकी इस दुनिया की यात्रा खत्म हुई। हमारी और आपकी यात्राएं अभी जारी हैं।

कुछ लोग शोक करते हैं। और शोक करना कुछ मुनासिब भी है, उचित भी है। लेकिन शोक किस बात का? गांधीजी के गुजरने का—महात्माजी के लिए या किसी और के लिए? महात्माजी का जीवन और महात्माजी की मृत्यु ऐसी हुई है, दोनों, कि हमेशा के लिए हमारा देश उनकी वजह से चमकता रहेगा।

शोक किस बात का! हां, शोक है; शोक अपने पर, महात्माजी के ऊपर नहीं। अपने ऊपर, अपनी दुर्बलता पर, हमारे दिल में जो द्वेष है, जो अदावतें, यह जो हम आपस में लड़ाइयां लड़ते हैं उन पर। याद रखो, महात्माजी ने किस बात पर अपनी जान दी? याद रखिए, क्या बात पिछले चन्द महीनों से उन्होंने विशेषकर पकड़ी थी? अब हम जो उनका आदर करते हैं तो फिर आदर खाली नाम का तो नहीं, उनकी बातों का, उनके उपदेश का और विशेषकर इस बात का जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया। और फिर हम और आप यहां इस त्रिवेणी से, गंगा तट से, घर जाकर जरा अपने-अपने दिलों से पूछें कि हमने अपना कर्त्तव्य कितना किया। हमें जो महात्माजी ने रास्ता बतलाया था उसमें कहां तक हम चलें, कहां तक हमने आपस में मेल रखने की कोशिश की, कहां तक लड़ाई की। अगर इन बातों पर हम विचार करें और फिर सही रास्ते पर चलें तभी हमारे लिए भला है और हमारे देश के लिए भला है। एक महापुरुष हमारे देश में आये, दुनिया भर को उन्होंने चमकाया, हमारे देश को चमकाया और फिर हमारे देश के और हमारे एक भाई के

हाथ से उनकी हत्या हुई। क्या बात है? आप सोचें, एक आदमी पागल होता है या न हो; लेकिन क्या बात है कि इस आदमी ने हत्या की। इसलिए कि इस देश में इतना विष फैलाया गया है, ऐसा जहर फैलाया गया है, एक-दूसरे के दिलों में, एक-दूसरे के विरुद्ध, खिलाफ, दुश्मनी, लड़ाई-झगड़े का। उस विष में से यह सब जहरीले पौधे निकल रहे हैं। अब आपका और हमारा काम है कि उस जहर को हम खत्म करें। हमने अगर महात्माजी से कुछ सबक सीखा है तो किसी एक व्यक्ति से, एक शख्स से, दुश्मनी का सवाल नहीं है। हम किसी से दुश्मनी नहीं करेंगे; लेकिन जो बुरा काम है, जो जहरीली बात है, उससे दुश्मनी करेंगे, उसका मुकाबला करेंगे और उसको हरायेंगे। यह सबक हमने सीखा महात्माजी से। हम तो कमजोर लोग हैं, फिर भी उनके साथ रहकर कुछ बड़प्पन हममें भी आ गया। उनकी साया में हम भी कुछ लोगों को लम्बे-चौड़े मालूम होने लगे। लेकिन असल में तेज उनका था, प्रताप उनका था, शक्ति उनकी थी और रास्ता उनका था। कुछ लड़खड़ाते, ठोकर खाते हम भी उस रास्ते पर चले इसलिए कि हम भी कुछ सेवा कर सकें। देश का अब वह सहारा गया; लेकिन कैसे मैं कहता हूं कि वह सहारा गया? क्योंकि जो यहां आज लाखों आदमी मौजूद हैं उनके अंदर से और देश के करोड़ों आदमियों के दिलों में से क्या गांधीजी की तस्वीर हटेगी? आज नहीं, क्योंकि आज जिन करोड़ों लोगों ने उनको देखा है वे याद रक्खेंगे। आगे और नस्लें आयेंगी, पौधे आयेंगे, जिन्होंने अपनी आंखों से उन्हें नहीं देखा; लेकिन फिर भी उनके दिल में वह तस्वीर जमी रहेगी; क्योंकि देश के इतिहास में वह जम गई है। आज गांधी-युग, एक तरह से कहा जाता है खत्म हुआ, जो ३०-४० वर्ष हुए भारत में शुरू हुआ था। लेकिन खत्म कैसे हुआ, समाप्त कैसे हुआ? वह तो एक तरह से, दूसरे ढंग से अब शुरू हुआ है। अबतक उनकी साया में हम उनका सहारा लेते थे, बहुत उनसे मदद मिलती थी। अब हमें और आपको अपनी टांगों पर चलना है। हां, उनके उपदेश का सहारा लेना है,

उनको याद का सहारा लेना है, उनसे थोड़ा-बहुत जो सीखा है उसको सामने रखकर सहारा लेना है। और सहारा तो उनका काफी है; लेकिन अब अपनी टांगों पर चलना है और विशेषकर जो उनका आखिरी उपदेश है, संदेश है, उसको याद रखना है और वह यह कि हमें डरना नहीं चाहिए। हमेशा वह सिखाते थे कि अपने दिल में से डर निकालना, अपने दिल में से द्वेष निकालना, लड़ाई-झगड़ा एक दूसरे से बन्द करना, अपने देश को आजाद करना। और उन्होंने हमारे देश को आजाद कराया, स्वराज्य लिया। स्वराज्य लिया और उन्होंने ऐसे तरीके से लिया कि सारी दुनिया में आश्चर्य हुआ। वह हमें मिला तो, लेकिन मिलते वक्त पर हम उनका सबक भूल गये, बहक गये और लड़ाई-झगड़ा किया और देश का नाम बदनाम किया। आजकल कितने नौजवान हमारे यहां हैं जो बहके हुए रास्ते से न जाने क्या-क्या नारे उठाते हैं, गलत बातें कहते हैं। तो वे नौजवान तो हमारे हैं, इस देश के, उन्हें हमें बनाना है। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यह जो जहर द्वेष का फैला हुआ है, लोगों के दिलों में, जो कहता है कि हिंदू को मुसलमान से लड़ना, मुसलमान को हिंदू से लड़ना या सिख को और किसी से, जो हममें धार्मिक झगड़े पैदा कराता है या धर्म के नाम पर राजनैतिक झगड़ा पैदा करता है, जो कुछ हो वह चीज बुरी है, वह जहर बुरा है। उसने हमारे देश को नीचा दिखाया है और हमारे देश को और आगे देश की आजादी को तबाह करेगा, अगर हम होशियार नहीं होते। इसलिए हिंदुस्तान को होशियार करने के लिए महात्माजी ने अभी कितने दिन हुए, दो-तीन सप्ताह ही तो हुए, उपवास किया कि जनता जागे, जिधर देश जा रहा है, उधर रुके। कुछ जनता जागी, कुछ हम लोगों ने और जनता के प्रतिनिधियों ने जाकर उनसे इकरार किया, प्रतीज्ञा की कि हां, हम इस गलत रास्ते पर नहीं चलेंगे। उन्होंने अपना व्रत, उपवास खत्म किया। किसको मालूम था उस समय कि थोड़े ही दिन में यह एक ज्यादा लम्बा सिलसिला शुरू होगा उपवास का, मौन का। एक दिन वह मौन रखते थे सप्ताह में, पर आज हमेशा के लिए हमारे और आपके लिए वह मौन हो गये।

तो आखिरी सबक उनका यह था इस लड़ाई-झगड़े को रोकना। और बहुत कुछ लोग उस सबक को समझे, आप और हम भी सब समझे और देश भी समझा; क्योंकि आप यह याद रखिये कि अगर ऐसा लड़ाई-झगड़ा जारी हुआ और अगर ये बातें हमारे देश में हुईं, जिनका एक नमूना और बहुत ही खतरनाक नमूना महात्माजी की मौत है, यानी क्या कि हमारे देश में लोग हाथ उठायें, दूसरे की हत्या करें; दूसरे की, और कैसे की, ऐसे महापुरुष को, इसलिए कि उसकी राय से वह नहीं सहमत था, इसलिए कि वह राजनीति में उसको सही नहीं समझता था, तो यह बड़ा खतरनाक रास्ता है, अगर हमारा देश इसमें पड़ा, एक दूसरे को मारने के लिए। इसलिए क्योंकि हम कहते हैं कि हमारे देश में जनता का राज्य हो, स्वराज्य हो, उसके माने क्या हैं ? हम एक-दूसरे को समझें, सारी जनता अपना प्रतिनिधि चुने और जो बात वे निश्चय करें वह बात की जाय। अगर इस तरह हम एक-दूसरे को समझकर नहीं करते और हर एक आदमी एक दूसरे से लड़ता है तो देश क्या? वह देश तो तबाह हो जाता है। यहां बहुत सारे सिपाही बैठे हैं, हमारे देश के फौज के सिपाही, हिंदुस्तानी फौज के सिपाहियों को अपनी देश की आजादी और देश के लिए गरूर करना उनका कर्त्तव्य है। देश की सेवा करें, देश की रक्षा करें। अगर वह सिपाही एक-दूसरे से लड़ा करें तो फौज की फौज खत्म हो जायगी। फिर फौज की शक्ति तो नहीं रही, ताकत तो नहीं रही। इस तरह से देश की ताकत और देश की शक्ति एक दूसरे से लड़ने से गिरती है। जो बातें हों उनको मिलकर फैसला करना, एक-दूसरे को समझाकर, यही ठीक स्वराज्य होता है, ठीक जनता का राज्य होता है। तो इस राय में जो लोग नहीं चलना चाहते वह दूसरे रास्ते पर चलते हैं, किन्तु जब वह हमें और आपको नहीं समझा सकते तो वह फिर तलवार और बन्दूक लेकर लोगों को मारना शुरू कर देते हैं, अपने भाइयों को, क्योंकि जनता उनके विरुद्ध है। अगर जनता उनके विरुद्ध न हो तो वह फिर जनता के बल पर हकूमत की कुर्सी पर बैठ सकते हैं। लेकिन

जब वह जानते हैं कि जनता इसके विरोध में है और जनता को इस तरफ नहीं ला सकते तब ऐसी बातें करते हैं, झगड़ा-फसाद करके ताकि उसमें उलटफेर हो तो उससे वे कोई फायदा उठायें। लेकिन यह तो ऐसे बचपने की बात है कि कोई लोग इस तरीके से मारपीट करके यहांकी हकूमत को बदल सकते हैं या यहां भारत में उलटफेर कर सकते हैं। यह तो कोई आदमी जो बिलकुल समझता नहीं है वह ऐसी बात कह सकता है। फिर भी ऐसी बात हुई तो क्यों हुई? इसलिए कि काफी लोग हमारे देश में और ऐसे लोग जो ऊंची पदवियों पर हैं, नीचे हैं और हर जगह हैं उन्होंने इस फिजा को, जहरीले विष की फिजा को, देश में बढ़ाया। अब हमारा और आपका काम है कि इस जहर को पकड़ें और इस जहर को खत्म करें, नहीं तो याद रखिए यह देश इस जहर में डूब जायेगा। मुझे विश्वास है कि हम इसका विरोध पूरी तरह करेंगे और अगर हमारे हाथ, पैर जरा कमजोर थे, दिल कमजोर था तो यह देखकर कि महात्माजी की मृत्यु हुई है, आपमें और मुझमें से कितने ऐसे आदमी हैं जो इस बात की प्रतिज्ञा नहीं करते कि हम इस बात को नहीं होने देंगे, झगड़े-फसाद को, जिसके लिए महात्माजी मरे और जिससे हमारे देश का, दुनिया का महापुरुष मरा। इस बात को जहां तक हममें ताकत है पूरा करेंगे।

तो आप हम सब यहां इस गंगा के तट से वापस जायेंगे। और दिल उदास है, अकेलापन है, विचार आता है कि अब कभी हम गांधीजी को नहीं देखेंगे। दौड़-दौड़ कर हम उनके पास आते थे जब कोई दिल में परेशानी हो, जब कोई बड़ा प्रश्न हो और समझ में न आये कि क्या करें, उनसे सलाह लेते थे। अब कोई सलाह देने वाला नहीं है। न कोई हमारे बोझों को उठाने वाला है। मेरे नहीं, आपके और हम सबों के। हमारे देश में जाने कितने हजार या लाख पुरुष उनको अपना मित्र समझते थे, उनके पास दौड़-दौड़ कर जाते थे। सभी उनके एक बच्चे से हो गये थे। इसलिए उनका नाम हो गया 'राष्ट्रपिता'। और वह तो हमारे देश के पिता हैं और देश के घर-घर में, लाखों करोड़ों

घरों में, आज उतना ही शोक है जितना कि पिता के जाने से होता है। तो हम यहां से जायेंगे उदास होकर, अकेले होकर। लेकिन उसके साथ हम यहां से जायेंगे एक गरूर लेकर—इस बात का कि हमारे देश में, हमारा नेता ऐसा एक महापुरुष था कि उसने सम्पूर्ण देश को कितनी दूर तक पहुंचाकर सच्चाई के रास्ते पर लगाया और हमें जो लड़ाई का तरीका बताया वह भी हमेशा सच्चाई का था। याद रखिए यह जो रास्ता उन्होंने हमें सिखाया वह लड़ाई का था, वह चुपचाप हिमालय की चोटी पर बैठने वाले महात्मा का नहीं था। वह हमेशा अच्छे कामों के लिए लड़ाई करने वाले थे; लेकिन लड़ाई उनकी सच्चाई, सत्य, अहिंसा और शांति की थी, जिसमें उन्होंने ४० करोड़ आदमियों को आजाद कराया। तो हमें शांत नहीं रहना है, इस तरह से कि चुपचाप हम जाकर छिप जायं। हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करना है और जो कुछ हमारा एक फर्ज है उसको अदा करना है। और फर्ज हमारा यह है कि जो हमने उनसे प्रतिज्ञा की है, जो हमारे देश में यह विष फैला है, खराबियां पैदा हुई हैं उनको हटाकर हम सच्चाई के रास्ते पर, धर्म के रास्ते पर चलें। हम इस देश को ऐसा बनायें, स्वतंत्र और आजाद हिंदुस्तान, जिसमें हर एक आदमी, हर एक धर्म का खुशी से रहे, मिलकर रहे और एक-दूसरे की सहायता करे और दुनिया को भी हम रास्ता दिखायें। यह प्रतिज्ञा करके हम यहांसे जायं तो हमारे लिए भला है। हमने एक बड़ा सबक तो सीखा और अगर हम इस बात को नहीं कर सकते, दुर्बलता में पड़ते हैं तो फिर यह कहा जायगा कि एक महापुरुष आया, लेकिन जनता उसके योग्य नहीं थी, बहकती थी, छोटी थी और उसके बड़ेपन को भी नहीं समझती थी।

'महात्माजी की जय' आपने और हमने इस तीस-चालीस वर्ष में कितनी बार पुकारी। सारे देश में वह आवाज गूंजी। वह आवाज सुनकर महात्माजी का दिल दुखता था। क्योंकि वह अपनी जय क्या चाहें। वह तो विजयी पुरुष थे। उनकी जय आप क्या करेंगे? जय हमारी और आपकी होने वाली है और

इस देश, बदकिस्मत देश की, जो जय कहकर ऐसी बात करते हैं जिससे देश कीचड़ में गिर जाता है! उनकी जय तो है, हमेशा के लिए, हजार दस हजार वर्ष तक उनका नाम लिया जायेगा एक विजयी पुरुष की हैसियत से। जय हमारी और आपकी वह चाहते थे। इसलिए देश की, जनता की और विशेषकर देश की गरीब जनता की। किसान बिचारे, हमारे हरिजन भाई, जो कोई दरिद्र हों, जो कोई गरीब हों, जो गिरे हुए हों, उनकी वह सेवा करते थे, वह उनको जाकर उठाते थे। उनके ढंग से उन्होंने अपना रहन-सहन बनाया और कोशिश की कि देश में कोई नीचा न हो। दरिद्रनारायण की वह चर्चा करते थे। इस तरीके से उन्होंने आपकी और हमारी जय चाही थी। देश की जय चाही थी, लेकिन हमारी और आपकी, देश की जय और कोई तो नहीं कर सकता। वह तो हम अपने बाहुबल से कर सकते थे। तो उन्होंने हमें मंत्र पढ़ाया, सिखाया कि क्या हम करें और क्या न करें। कैसी जय वह चाहते थे, खाली ऊपरी जय नहीं, जैसे कि और देशों में होती है कि जरा गुलशोर मचाकर, हुल्लड़, बेईमानी करके या कुछ तलवार बन्दूक भी चलाकर हमारी जीत जरा-सी हो जाय। वह जीत बहुत दिनों तक चलती नहीं और जिसे और देश भी हल्के-हल्के सीख रहे थे कि विजय एक देश की ऐसी बड़ी बुनियाद पर, सच्चाई पर अटल है, जिसके ऊपर हम आज बड़ी इमारत बनायें, तो वह कभी गिर नहीं सकती; क्योंकि बुनियाद मजबूत है। आजकल की दुनिया में क्रांति होती है, इन्कलाब, उलट-पलट, कभी देश नीचे है कभी ऊंचे, फरेब है, झूठ है, दगाबाजी है, यह आजकल की राजनीति है। उन्होंने हमें दूसरी राजनीति सिखाई, सच्चाई और अहिंसा की, एक दूसरे से प्रेम करने की। उन्होंने हमें यह बतलाया कि यह जो भारत देश है, इसमें बहुत सारे धर्म, मजहब हैं, बहुत दिनों से रहते हैं, वह सब भारत के हो गये हैं, विदेश के नहीं। वह सब हमारे हैं, वह सब हमारे भाई हैं, हमें मिलकर रहना है, किसीको अधिकार न हो कि वह दूसरे के अधिकार पर कब्जा करे, किसी को अधिकार न हो कि वह किसी दूसरे का हिस्सा ले। हमारी जनता का

राज्य हो, उसमें सारे ३०-४० करोड़ हिंदुस्तानियों का बराबर का भाग हो। यह नहीं कि थोड़े से अमीर लोग उसके बड़े हिस्सेदार हो जायं और सारी हमारी जनता गरीब हो। यह स्वराज्य महात्माजी का नहीं था। आम जनता का स्वराज्य एक कठिन बात है; लेकिन हल्के-हल्के हम इस तरफ जा रहे हैं और उनका सबक सीख कर और उनकी शक्ति और तेज लेकर हम भी हल्के-हल्के बढ़ते हैं। लेकिन अब उनका यह आखिरी सबक देखकर समय आगया है कि हम ज्यादा चुस्ती से आगे बढ़ें और समझें और उसकी खराबियों को खत्म करें और फिर आगे बढ़ें। तब असल में हम और आप बहुत जोरों से सच्चाई से कह सकेंगे कि

'महात्मा गांधी की जय।'

एक साल बाद—

(३० जनवरी १९४९ को गांधीजी की पहली बरसी पर आल इंडिया रेडियो से दिया गया भाषण)

दोस्तों और साथियों, एक साल पहले इसी जगह से बोलते हुए मैंने कहा था कि जिस रोशनी ने हमारी जिन्दगी को रौशन किया था वह बुझ गई है और ऐसा जान पड़ता है कि अंधेरा हमें चारों तरफ़ से घेर लेगा। मुसीबतों से भरे हुए उस साल के बोझे को आपने और मैंने बड़ी हिम्मत के साथ उठाया और आज मैं फिर आपके सामने बोल रहा हूं।

वह रोशनी बुझी नहीं है; क्योंकि वह पहले से कहीं ज्यादा तेजी से चमक रही है और हमारे प्यारे नेता का संदेश हमारे कानों में गूंज रहा है। फिर भी किस तरह हम में से बहुत-से लोग आपसी बैर की वजह से अक्सर उस रोशनी की तरफ़ से अपनी आंखें और उस संदेश की तरफ़ से अपने कान बंद कर लेते हैं। आज हमें अपनी आंखें, अपने कान, और अपने दिल खोलने चाहिएं और पूरी श्रद्धा के साथ गांधीजी की याद करनी चाहिए। सब से ज्यादा हमें यह सोचना चाहिए कि वह किन-किन बातों के हामी थे और हम से क्या-क्या करने को कहते थे।

आज शाम को हममें से बहुत-से लोगों ने—मुल्क भर के शहरों, कस्बों और गांवों में—गांधीजी के संदेश को दुहराये जाते सुना है और उसकी रोशनी में नये सिरे से काम करने का व्रत लिया है। इस संदेश की जितनी जरूरत आज की पागल और बिखरी हुई दुनिया में है उतनी पहले कभी नहीं थी। बारबार इस दुनिया ने अपनी गुत्थियों को हिंसा और नफ़रत से सुलझाने की कोशिश की है और बारबार उसे नाकामयाबी और बरबादी का सामना करना पड़ा है।

इसलिए अब हमें अपने कड़वे अनुभव से सबक़ सीखना चाहिए। वह सबक़ यह है कि हम ज़िन्दगी में नैतिक बातों को नहीं भुला सकते और अगर भुलायेंगे तो ख़ुद ही जोखिम उठायेंगे। वह सबक़ यह है कि अपने मुल्क और दुनिया की बुराइयों को हम लड़ाई-झगड़े और नफ़रत से नहीं, बल्कि अमन के तरीक़ों से, एक-दूसरे के कंधे से कंधा भिड़ाकर और बिना किसी स्वार्थ के आज़ादी व सचाई की सेवा करके दूर कर सकते हैं। वह सबक़ यह है कि हमें अपने मुल्क के सभी लोगों में एकता और मुहब्बत बढ़ानी चाहिए और जन्म, जाति या धर्म से पैदा होने वाले सभी भेदभावों को मिटा देने की कोशिश करनी चाहिए, यहां तक कि जो लोग हमारी बुराई चाहते हैं उनके आगे भी हमें दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहिए और उनकी मुहब्बत जीतने की कोशिश करनी चाहिए। दुनिया के मुल्कों से हम कहते हैं कि दूसरों से हमारा कोई झगड़ा नहीं; हम तो दुनिया के सभी लोगों की आज़ादी और ख़ुशहाली को मजबूत बनाने के बड़े काम में सिर्फ़ आपका दोस्ताना हाथ चाहते हैं। हम दूसरों पर हुक्म चलाना या उन पर से कोई फ़ायदा उठाना नहीं चाहते, लेकिन हम अपनी आज़ादी की पूरी ताक़त के साथ रक्षा करेंगे, चाहे उसके लिए हमें कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। हो सकता है कि आज हमारी आवाज़ कमजोर हो, लेकिन वह जो संदेश सुनाती है वह कोई कमज़ोर संदेश नहीं है। उसमें सत्य की ताक़त है और वह अमर रहेगा।

आइये, इसी खयाल और इसी प्रण के साथ आज हम अपने गुरु और

अपने उस प्यारे नेता को श्रद्धांजलि भेंट करें, जो हमें छोड़ तो गया है, लेकिन फिर भी हर वक़्त हमारे साथ है। हमें चाहिए कि हम अपनेको उसके, अपने मुल्क के, अपनी प्यारी मातृभूमि के क़ाबिल बनावें—वह मातृभूमि जिसकी सेवा का आज हमने फिर व्रत लिया है।

'एक खयाल'

(दिल्ली में राजघाट पर सर्वोदय दिवस समिति द्वारा आयोजित 'गांधी मंडप प्रदर्शनी' का उद्घाटन करते हुए दिया गया ३१ जनवरी १९४९ का भाषण।)

आप लोगों ने पहले भी नुमायशें देखी होंगी—बहुत बड़ी-बड़ी और शानदार नुमायशें। लेकिन आज जिस नुमायश को देखने के लिए आप लोगों को दावत दी गई है वह नुमायश के लिहाज से कोई बड़ी चीज नहीं है। इस नुमायश में आपको कोई अजीब चीज देखने को नहीं मिलेगी; कुछ तस्वीरें, कुछ किताबें और कुछ पत्र हैं, जो आप लोग यहां देखेंगे। जरूरत है इस बात की कि हम इन चीजों को देखकर उनकी याद ताजा करें। गांधीजी ने कितना बड़ा असर किया था इस मुल्क पर, उसे देखकर हैरत होती है। चाहे जैसी अच्छी तस्वीरें हों, चाहे जैसे अच्छे चित्र हों, महात्माजी को क्या कोई चीज व्यक्त कर सकती है? गांधीजी से मिलने के बाद, नजरों से उनका रूप ओझल हो जाने के बाद, एक ख़याल रह जाता था। गांधीजी एक ख़याल थे—कमजोर शरीर में एक जबरदस्त आत्मा थे। असली नुमायश तो होगी करोड़ों दिलों की, करोड़ों दिमाग़ों की। गांधीजी इतने महान् थे कि उनकी शान का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। उनकी महानता को हम किन गजों से नापें ? दुनिया में कुछ लोग होते हैं जिनकी शान का अंदाजा उनके जीवन से कूता जाता है—उनके ओहदों से और मरने के बाद उनकी मूर्त्तियों और तस्वीरों से। कम ऐसे होते हैं जिनकी नापतोल मामूली गजों से नहीं होती—इसीलिए उनकी शान का सवाल ही नहीं उठता। कहना पड़ेगा कि जो हुआ वही शानदार है।

जब अंदर आप नुमायश देखने जायेंगे तो वहां आपको एक झोंपड़ी का नमूना दिखाई देगा। यह झोंपड़ी हर पहलू से सेवाग्राम में बापू की झोंपड़ी की तरह है। एक मामूली-सी झोंपड़ी, जहां वह रहते थे, लेकिन मुल्क के कोने-कोने से लोग वहां यात्रा के लिए जाते थे। तमाम दुनिया की निगाहें उसकी ओर हो गई थीं। इसकी वजह थी वह आत्मा जो उसमें निवास करती थी। आजकल के विज्ञान ने जो सहूलियतें इंसान के लिए खोजी हैं उनमें से वह वहां बहुत कम का इस्तेमाल करते थे। वह हमेशा ऐसी ही जगहों में रहना पसंद करते थे। भंगियों के साथ रहना उन्हें अच्छा लगता था। कभी-कभी उनके दोस्त उन्हें अपने साथ रहने के लिए भी खींच लेजाते थे। उनके बड़े-बड़े महल होते थे, लेकिन झोंपड़ी हो या महल, सेवाग्राम हो या लंदन--गांधीजी का काम हमेशा एक-सा चलता था। कोई रुकावट, कोई बाधा उसमें उपस्थित नहीं होती थी।

यह नुमायश एक घास-फूस की इमारत में रखी गई है--ऐसी इमारत जो किसी भी गांव में बन सकती है। लेकिन इसके अंदर जो ख़ूबसूरती है, जो कला है, वह हमें एक सबक देती है और वह यह कि ख़ूबसूरती सिर्फ़ ईंट-पत्थर से ही नहीं आती। आप लोग नुमायश देखेंगे तो कुछ को ख़ुशी होगी और कुछ को रंज होगा। मुझे उम्मीद है कि नुमायश देखकर उनका असली ख़याल--वह ख़याल जो असलियत में गांधी था--आपके सामने आयेगा।

निर्देशिका